RNI NO.– UPHIN/26/A0189

वर्ष : 01 । अंक : 01

Volume - I, Issue - I

त्रैमासिक शोध पत्रिका

जनवरी – मार्च 2026

January - March 2026

अनन्त अनादि

अन्तर्विषयी सान्दर्भिक समीक्षित शोध–पत्रिका

Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Research Journal

मूल्यः ₹50/-

अनन्त अनादि

अन्तर्विषयी सान्दर्भिक समीक्षित शोध-पत्रिका

वर्ष : 01 । अंक : 01
जनवरी – मार्च 2026

January-March 2026
Volume - I, Issue - I

₹50/-

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक
सुमित राय
द्वारा भारती प्रकाशन
शॉप नं. 45, धर्मसंघ कॉम्पलेक्स, दुर्गाकुण्ड, रोड,
वाराणसी, उ.प्र. –221010
से मुद्रित कराकर व
म.न. 119, जगरनाथ छपरा, घाटी, भाटपार रानी, देवरिया,
उ.प्र. –274705 से प्रकाशित ।

संरक्षक

श्री राम बहादुर राय
अध्यक्ष,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नई दिल्ली

प्रधान संपादक

सुमित राय

सुविचार

छायामन्यस्य कुर्वन्ति, तिष्ठन्ति स्वयमातपे।
फलान्यपि परार्थाय, वृक्षाः सत्पुरुषा इव।।

वृक्ष स्वयं धूप में खड़े रहते हैं परन्तु अन्य लोगों को छाया प्रदान करते हैं। वृक्षों के फल भी परोपकार के लिये होते हैं। इसलिये वृक्ष सत्पुरुषों जैसे हैं।।

अनुक्रम

सम्पादकीय	3
काशी की शैव–वैष्णव सम्मिश्रित परम्परा कला कृतियों पर आधारित इतिहास एवं संस्कृति परक विवेचना	4-7
भाषा और संचार शिक्षा का अंतर्संबंध	8-11
छत्तीसगढ़ के आरंभिक शैव मठ एवं शैवाचार्य एक आभिलेखिक अध्ययन	12-14
योग का सांस्कृतिक अनुकूलन और सांस्कृतिक विनियोग : एक डीकॉलोनियल अध्ययन	15-18
भारतीय ज्ञान परंपरा में वैज्ञानिक दृष्टि : तर्क, अनुभव और प्रयोग की अनवरत परंपरा	19-22
भारतीय ज्ञान परंपरा के दार्शनिक आयाम	23-26
भूमण्डलीकरण एवं असंगठित श्रमिकों का सामाजिक – सांस्कृतिक जीवन (गोरखपुर नगर के विशेष संदर्भ में)	27-30
भारतीय संस्कृति : साहित्य और मूल्य विमर्श	31-30

प्रकाशित विज्ञापन एवं रचनाओं से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है। इनके विवादों का दायित्व विज्ञापनदाता व लेखक का होगा। इसके लिए सम्पादक प्रकाशक, मुद्रक व स्वामी कदापि उत्तरदायी नहीं होंगे। सभी पद अवैतनिक है।

संपादक मण्डल

डॉ. पृथ्वीश नाग
पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डीडीयू गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज (इलाहाबाद)

डॉ. ज्ञानेन्द्र नारायण राय
सेनेटरी विजिटिंग फेलो, भारत अध्ययन केंद्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. रवीन्द्र नाथ खरवार
प्रोफेसर, वनस्पति विज्ञान, विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. राघवेंद्र मिश्रा
डीन, पत्रकारिता और जनसंचार संकाय
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक,मध्य प्रदेश

प्रो. शरद कुमार मिश्र
प्रोफेसर, जैव प्रौद्योगिकी विभाग
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. अनूपपति तिवारी
सेनेटरी विजिटिंग फेलो, भारत अध्ययन केंद्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Peer Review Board/ Committee

1. Dr. Awadhesh Yadav
   Assistant Professor (Philosophy) Laxmi Bai Collage, Delhi University.
2. Dr. Vivek Mishra
   Assistant Professor (Sociology) SVPG Collage, Deoria.
3. Dr. Manoj singh Yadav
   Assistant Professor (AIHC & ARCHAEOLOGY) DAVPG Collage, BHU – Varanasi.
4. Dr. Mangalvardhan Das Sadhu
   Assistant Professor (Shivtatva anusandhan Peeth) Shree Somnath Sanskrit University, Verawal, Gujrat- Bharat.
5. Dr. Vivek Prakash Singh
   Assistant Professor (Sociology) B.N. Mandal University, Madhepura- Bihar.
6. Dr. Pradeep Dixit
   Assistant Professor (Law) SVPG Collage, Deoria.
7. Dr. Pradyot Singh
   Assistant Professor (Hindi) B.R.D.P.G Collage, Deoria.
8. Dr. Ananad Prabhashankar Pandya
   Assistant Professor (Sanskrit) M.T.B. Arts Collage, Surat- Gujrat.

नोट:

•अनन्त अनादि में सभी पद मानद व अवैतनिक है।।

•शोधपत्रिका में प्रकाशित सभी लेखों में लेखकों के अपने विचार है, संपादक मंडल का इससे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं।

•पत्रिका से संबंधित प्रत्येक विवाद का न्याय क्षेत्र देवरिया न्यायालय ही मान्य होगा

•मो. ओवैस (ग्राफिक्स डिज़ाइनर) मो. 9807651635

संपादकीय कार्यालय का पता

119, ग्राम जगन्नाथ छपरा, पोस्ट– घाटी, तहसील– भाटपार रानी, जिला– देवरिया (उत्तर प्रदेश)
Mobile No. 6307862732 | E-mail - anantanaadi26@gmail.com

सम्पादकीय

प्रिय पाठकों,

भारतीय ज्ञान–परंपरा का स्वरूप मूलतः किसी एक कर्ता, कालखंड अथवा सत्ता–संरचना से आबद्ध नहीं रहा है। यह परंपरा अपौरुषेयता के उस बोध से विकसित हुई है, जिसमें ज्ञान को मानव–निर्मित उत्पाद न मानकर एक सतत अन्वेषणशील चेतना के रूप में देखा गया है। इसी कारण भारतीय बौद्धिक परंपरा न तो इतिहास में बंद हुई है और न ही भूगोल में सीमित रही है, वह समय, समाज और संदर्भों के पार एक जीवंत वैचारिक प्रवाह के रूप में निरंतर विकसित होती रही है।

पत्रिका अनंत अनादि का यह प्रथम अंक इसी सतत ज्ञान–प्रवाह के समकालीन पुनर्पाठ का एक अकादमिक प्रयास है। पत्रिका का सूत्र है अनादि ज्ञान एवं अनंत दृष्टि यह केवल एक सूत्रवाक्य नहीं है बल्कि भारतीय दर्शन की उस मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है जिसमें ज्ञान को अंतिम निष्कर्ष नहीं बल्कि निरंतर विस्तारमान दृष्टि के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वैदिक उद्घोष है "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः" यह भारतीय चिंतन की उसी उद्घाटनशील मानसिकता को रेखांकित करता है, जहाँ विचार किसी एक दिशा, परंपरा या मत तक सीमित नहीं होते। भारतीय परंपरा में ज्ञान को स्थिति (state) नहीं बल्कि साधना (process) माना गया है। उपनिषदों में विद्या को आत्मबोध से जोड़ा गया है, जहाँ ज्ञान का उद्देश्य केवल सूचना संग्रह नहीं,बल्कि अस्तित्वगत बोध और मूल्यात्मक परिपक्वता है। विद्यया अमृतमश्नुते का संकेत इसी ओर है कि ज्ञान जीवन को अर्थ देता है न कि केवल उपयोगिता। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान–परंपरा का विकास नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक तीनों स्तरों पर समग्रता के साथ हुआ है। यहाँ दर्शन केवल अमूर्त चिंतन नहीं रहा, बल्कि जीवन–पद्धति और सामाजिक उत्तरदायित्व से गहराई से जुड़ा रहा। भारतीय दर्शन की संवादात्मक संरचना सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त इस बात का प्रमाण है कि मतभेद को विघटन नहीं, बल्कि बौद्धिक परिष्कार का माध्यम माना गया। शास्त्रार्थ की परंपरा ने ज्ञान को जड़ निष्कर्ष बनने से रोका और उसे सतत प्रश्नशील बनाए रखा।

बृहदारण्यक उपनिषद् निर्देश देता है श्रवण, मनन और निदिध्यासन का जो भारतीय ज्ञान–पद्धति की गहनता को स्पष्ट करता है। यहाँ ज्ञान अर्जन एक तात्कालिक क्रिया नहीं, बल्कि दीर्घ बौद्धिक और आंतरिक अनुशासन की प्रक्रिया है। प्रिय पाठकों अनंत अनादि यह त्रैमासिक पत्रिका इसी परंपरा को समकालीन अकादमिक विमर्श में पुनर्स्थापित करने का प्रयास करती है, जहाँ विचार केवल प्रस्तुत नहीं किए जाते बल्कि विवेकपूर्ण संवाद के लिए आमंत्रित किए जाते हैं।

आपको विदित है की भारतीय ज्ञान–परंपरा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह ज्ञान को स्थिर निष्कर्ष मानने के बजाय नेति–नेति एवं अनुभव, संवाद और विवेक के माध्यम से निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया के रूप में देखती है। इसी कारण भारतीय दृष्टि व्यक्ति से समाज तक, लौकिक से पारलौकिक तक और वर्तमान से भविष्य तक विस्तृत रहती है। समकालीन वैश्विक अकादमिक परिदृश्य में जहाँ ज्ञान को प्रायः बाजार, तात्कालिक उपयोगिता और तकनीकी दक्षता के मानदंडों पर परखा जा रहा है, वहाँ भारतीय ज्ञान–परंपरा एक वैकल्पिक ज्ञानमीमांसीय ढांचा प्रस्तुत करती है। यहाँ ज्ञान का प्रयोजन केवल दक्षता नहीं बल्कि लोकमंगल है ऐसा कल्याण जो व्यक्ति और समाज दोनों को संतुलित रूप से विकसित करता है। सर्वे भवन्तु सुखिनः का भाव इसी सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना को अभिव्यक्त करता है।

इस प्रथम अंक में मैं यह प्रमुख रूप से बताना चाहता हूँ की पत्रिका अनंत अनादि का उद्देश्य संस्कृति, विचार और समकालीन प्रश्नों को भारतीय ज्ञान–परंपरा के आलोक में अकादमिक अनुशासन और शोधात्मक गंभीरता के साथ प्रस्तुत करना है। हमारी यह पत्रिका संस्कृति को न तो जड़ अतीत मानती है और न ही विचार को वैचारिक ध्रुवीकरण का उपकरण, बल्कि उसे सतत पुनर्विचार और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के रूप में देखती है। यह मंच शोधकर्ताओं, अध्येताओं और विचारकों को आमंत्रित करता है कि वे भारतीय दृष्टि से समकालीन समस्याओं पर तर्कसंगत, संदर्भयुक्त और गंभीर विमर्श प्रस्तुत करें। अंततः मैं यही बताना चाहता हूँ की अनंत अनादि उस सनातन वैचारिक यात्रा का एक अकादमिक पड़ाव है, जहाँ अनादि ज्ञान का पुनर्पाठ अनंत दृष्टि के साथ किया जाता है। यह प्रयास केवल बौद्धिक स्पष्टता ही नहीं बल्कि एक मूल्याधारित, संतुलित और समग्र समाज की वैचारिक आधारभूमि निर्मित करने की दिशा में एक विनम्र किंतु सजग कदम है।

आपसे मैं विशेष रूप से यह भी निवेदन करना चाहता हूँ कि अनंत अनादि का प्रकाशन देवरिया से किया जा रहा है। पूर्वांचल की सांस्कृतिक धरती, लोकसंस्कारों की गहराई और वैचारिक जीवंतता इस पत्रिका की आत्मा में विद्यमान है। प्रिय पाठकों हमारा उद्देश्य केवल राष्ट्रीय स्तर पर विमर्श प्रस्तुत करना नहीं बल्कि जनपदों की बौद्धिक ऊर्जा विशेषकर युवा पीढ़ी (जेन–जी) को शोध और लेखन की दिशा में प्रेरित करना भी है। जनपद देवरिया जो लोकजीवन, परंपरा और बदलते सामाजिक यथार्थ का संगम है यहां से प्रकाशित यह पत्रिका यह संदेश देती है कि ज्ञान की राजधानी केवल महानगर नहीं होते बल्कि जनपद भी वैचारिक संपदा के केंद्र बन सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि इस क्षेत्र के विद्यार्थी, शोधार्थी और युवा चिंतक अपनी बौद्धिक क्षमता को अभिव्यक्त करें, स्थानीय अनुभवों को वैश्विक विमर्श से जोड़ें, और स्थानीयता की मिट्टी से जुड़ी संवेदना को अकादमिक गंभीरता के साथ प्रस्तुत करें। अब अन्त में आपसे यही कहना चाहता हूँ की न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ज्ञान की यही शुद्धता, यही दृष्टि इस पत्रिका का आधार और उद्देश्य है।

संपादक
सुमित राय

काशी की शैव–वैष्णव सम्मिश्रित परम्परा कला कृतियों पर आधारित इतिहास एवं संस्कृति परक विवेचना

डॉ. ज्ञानेन्द्र नारायण राय
सेण्टेनरी फेलो
भारत अध्ययन केन्द्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
मो. 9415452261 । ई–मेल : gnrai@bhu.ac.in

भूमिका

काशी परम्परा एवं इतिहास दोनों ही दृष्टियों से विश्व की प्राचीनतम नगरियों में से एक है, जहाँ अतीत वर्तमान की परम्पराओं में आज भी जीवित है। इसीलिए इस नगर को 'जिन्दा शहर' के नाम से भी जाना जाता है। काशी विश्व के अन्य किसी भी प्राचीन नगर (मिश्र, सुमेरिया, बेबिलोनिया आदि) की तुलना में अधिक प्राचीन है। इसकी प्राचीनता, वैदिक काल तक अग्रलिखित शब्दों के प्रयोग से सिद्ध है, ऋग्वेद में 'काशिः'[1] एवं 'काशिना'[2] तथा अथर्ववेद की शौनक संहिता एवं पैप्पलाद संहिताओं में 'काशिना'[3] तथा विनशन सूक्त में वरणावती[4] नदी का उल्लेख है, जिसके नाम पर वाराणसी नामकरण होना माना जाता है। इसके साथ उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराणों एवं परवर्ती ग्रन्थों के साथ–साथ बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी प्राप्त है।

इन साहित्यिक सन्दर्भों के साथ–साथ राजघाट व अकथा के पुरातात्विक उत्खननों के आधार पर भी काशी 1600 ई.पू. से अपने समृद्ध इतिहास व परम्परा को सँजोए हुए है। इस नगरी की प्राचीन और पारम्परिक विरासत संस्कृति के विभिन्न आयामों (ज्ञान, धर्म, संगीत, साहित्य तथा कला) में देखने को मिलती है, काशी के इन विविध आयामों में से'कला' पक्ष के सन्दर्भ में कुछ रोचक और महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों खासकर भारत कला भवन में संग्रहीत काशी के कुछ विशिष्ट कला उदाहरणों के आलोक में प्रस्तुत है।

काशी की कला की प्रसिद्धि बुद्ध–पूर्व काल से ही थी फलस्वरूप काशी की कला की धूम बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है विशेषतः बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं (जातक) में एवं महापरिनिब्बान सुत्त में।

'कला' धर्म एवं आस्था की मूर्त अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम रही है। परिणाम स्वरूप काशी में वैदिक–पौराणिक परम्परा के शिव, विष्णु, शाक्त, सौर तथा गणेश व कार्त्तिकेय के मन्दिरों व मूर्तियों के साथ–साथ श्रमण परम्परा के प्राचीन बौद्ध स्तूपों–मूर्तियों एवं जैन वास्तु संरचनाओं के साथ ही स्वतन्त्र रूप में देव प्रतिमाओं का निर्माण प्रभूत संख्या में हुआ है।

पुरातात्विक उदाहरणों में मौर्यकालीन (तृतीय शती ईसापूर्व) सुन्दर मूर्ति एवं वास्तु के उदाहरण प्राप्त होते है। मौर्य एवं गुप्तकाल में एक प्रमुख कला.केन्द्र के रूप में काशी की प्रतिष्ठा सर्वविदित है। काशी में वास्तु एवं मूर्तिनिर्माण की अविच्छिन्न परम्परा बाद की शताब्दियों तक प्राप्त है जिसके उदाहरण 7वीं से 13वीं शती के बीच नगर के विभिन्न हिस्सों में देखने को मिलते हैं। दुर्भाग्यवश मुस्लिम आक्रान्ताओं के प्रभाव के कारण वास्तु संरचनाओं एवं मूर्तियों को काफी क्षति हुई। यही कारण है कि इतने समृद्ध कला.केन्द्र होने के बावजूद वर्तमान में कन्दवा स्थित कर्दमेश्वर एवं गंगा–वरुणा संगम पर आदिकेशव मन्दिर के मुख्य भागों के अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन मन्दिर सुरक्षित अवस्था में नहीं प्राप्त है।

सामान्य रूप से यही माना जाता है कि काशी अनादि काल से शिवतीर्थ रहा है। लेकिन पौराणिक कथाओं के अनुशीलन के पश्चात् यह तथ्य प्रमाणित होता है कि पहले यह विष्णुतीर्थ था, बाद में शिवतीर्थ हुआ। वैसे भी वैष्णव और शैव सम्प्रदाय में तात्विक भेद नहीं है, एक 'हरि' के उपासक हैं तो दूसरे 'हर' के। इनमें केवल मात्रा का भेद है। पौराणिक कथाओं में माँ गंगा विष्णु.पदी कही गईं हैं क्योंकि इनका आविर्भाव विष्णु के चरणों से हुआ है और ये शिव के मस्तक पर विराजमान हैं। नारदपुराण के अनुसार विष्णु काशी का शरीर हैं तो शिव उसमें विचरण करने वाली आत्मा।

आद्यं च वैष्णवं स्थानं पुराणे परिचक्षते।
पुरीषु संस्थितो विष्णुरंशै काश्यां स्वरूपतः।।
काशीस्वरूपं विष्णोस्तु यत्र साक्षात्प्रकाशते।[5]

वामनपुराण के एक वर्णन के अनुसार यह क्षेत्र विष्णु का है, आगे चलकर शिव का हो जाएगा। प्रयागस्थित योगशायी से आदिकेशव तक यह विष्णु का क्षेत्र कहा गया है।

तमूचुर्मुनयः सूर्य शृणु क्षेत्रमहाफलम्।
साम्प्रतं वासुदेवस्य भावि तच्छरस्य च।।
योगशायिनमारभ्य यावत्केशवदर्शनात्।
एतत्क्षेत्रं हरेः पुण्यं नाम्ना वाराणसी पुरी।।[6]

ब्रह्मवैवर्तपुराण भी काशी क्षेत्र को 'महालिंगमयं जनार्दनम्' ही कहता है।

अहो महालिंगमयं जनार्दनम्।
पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम्।।[7]

लिंगपुराण भी काशी क्षेत्र के कारण क्षेत्रज्ञ 'केशव' अर्थात् विष्णु को ही मानता है और उनके दर्शन से ही चराचर सभी के दर्शन होने की बात करता है।

वेदेश्वरादुदीच्यां तु क्षेत्रेशश्चादिकेशवः।
दृष्टं त्रिभुवनं सर्वं तस्य सन्दर्शनात् ध्रुवम्।।[8]

पौराणिक सन्दर्भों के अनुसार भगवान् विष्णु ने काशी शिव को उनके निवेदन पर प्रदान की थी। आज भी मणिकर्णिका से दक्षिण आदिकेशव तक विष्णु.काशी मानी जाती है और मणिकर्णिका के उत्तर असि (अस्सी) घाट तक शिव.काशी मानी जाती है।

काशी में शिव प्रतिमाओं और मन्दिरों के साथ नारायण 'विष्णु' के विविध स्वरूपों की प्रभूत संख्या में प्रतिमा प्रतिष्ठित होने का सन्दर्भ स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में प्राप्त है।

नारायणाः शतं पंच शतं च जलशायिनः।
त्रिंशत्कमठरूपाणि मत्स्यरूपाणि विंशतिः।।
गोपालाश्च शतं साष्टं बुद्धाः सन्ति सहस्रशः।
त्रिंशत्परशुरामाश्च रामा एकोत्तरं शतम्।।
विष्णुरूपोऽस्म्यहं चैको मुक्तिमण्डपमध्यतः।[9]

काशी का प्राचीनतम वैष्णव तीर्थ वरुणा तथा गंगा के संगम पर स्थापित आदिकेशव का सुप्रसिद्ध मन्दिर है।[10] इसके अतिरिक्त काशी विश्वनाथ के मुक्ति–मण्डप में स्थित विष्णु की मूर्ति की भी सत्रहवीं शताब्दी तक बड़ी महिमा थी। यहाँ तक कि विश्वनाथ जी की पूजा करने के पूर्व उनकी पूजा आवश्यक समझी जाती थी; क्योंकि बिना विष्णु की पूजा हुए विश्वनाथ पूजा ग्रहण नहीं करते थे।

आदावनाराध्य भवन्तमत्र यो मां भजिष्यत्यपि भक्तियुक्तः।
समीहितं तस्य न सेत्स्यति ध्रुवं परात्परान्मेऽम्बुज चक्रपाणे।।[11]
निर्वाणिमण्डपे स्थित्वा विष्णुं नत्वा पुनः पुनः।
देवस्य दक्षिणे भागे साक्षान्मुक्तिः करे स्थिता।।[12]

लेकिन औरंगजेब द्वारा विश्वनाथ मन्दिर तोड़े जाने के पश्चात् मुक्तिमण्डप के मस्जिद का अंग हो जाने के कारण उसका अस्तित्व ही मिट गया और यह विष्णुपीठ लुप्त हो गया। तबसे इनकी मानसिक पूजा होने लगी।

आदिकेशव मन्दिर के साथ यही घटना 1114 ई. में ही हो गई जब कुतुबद्दीन ऐबक ने बनारस के किले के साथ–साथ आदिकेशव मन्दिर भी ध्वस्त कर दिया था। चूंकि यह स्थान निरन्तर मुसलमानों के अधिकार में रहा परिणाम स्वरूप इस मन्दिर का पुनःद्धार लम्बे समय तक नहीं हो सका, परन्तु इस तीर्थ की महिमा व पूजन पंचतीर्थी यात्रा के महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण जनमानस में बनी रही। कालान्तर में अन्य तीर्थों के साथ–साथ वहाँ पर भी दूसरी मूर्ति स्थापित हुई। प्राचीन आदिकेशव मन्दिर कैसा था इसका स्पष्ट संदर्भ नहीं प्राप्त होता। लेकिन सातवीं शताब्दी में आए विदेशी यात्री ह्वेनसांग ने काशी में सुदृढ़ तथा विशाल देवालयों का वर्णन किया है। यह मन्दिर राजप्रसाद के अत्यन्त समीप था और गाहड़वालों के कुल देवता विष्णु को समर्पित मन्दिर होने से भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह उत्कृष्ट व भव्य मन्दिर रहा होगा।

उपर्युक्त सन्दर्भ में गाहड़वालगोविन्दचन्द्रदेव की रानी कुमारदेवी द्वारा काशी के सारनाथ में अशोक द्वारा पूर्वनिर्मित–वास्तु धमेक–स्तूप का पुनर्रक्षण एवं नवनिर्माण कराया जैसा कि अभिलेख में वर्णित है–

धर्माशोकनराधिपस्य समये श्रीधर्मचक्रो जिनो।
यदृक् तन्नयरक्षितः पुनरयञ्चक्रे ततोप्यद्भुतम्।।[13]

धर्माशोकनराधिपस्य समये श्रीध-
म(र्म)चक्रो जिनो यादृक् तन्नयरचितः पुनरयञ्चक्रे ततोप्यद्भुतम्।

इन पंक्तियों को ध्यान में देखा जाए कि किस प्रकार उसने भगवान् बुद्ध को विष्णु के अवतार रूप को मनसा स्वीकार करते हुये बौद्ध राजरानी ने एक महत् कार्य सम्पादित किया। सारनाथ के उपरिसन्दर्भित अभिलेख में ही रानी ने अपने पति का उल्लेख किया है (श्लोक 16)[14](गोविन्दचन्द्र इति प्रथिताभिधानः।।) जो गोविन्द नाम से विख्यात थे। वे राजाधिराज, शिव द्वारा विष्णु से की गई प्रार्थना पर वाराणसी को दुष्ट तुरुष्कों से बचाने के लिये स्वयं गोविन्दचन्द्र के रूप में अवतरित थे–

वाराणसी भुवन रक्षणदक्ष एको
दुष्टात्तुरुष्कसुभटादवितुं हरेण।
उक्तो हरिस्स पुनरत्र वभूव तस्माद्

11वीं शताब्दी के गोविन्दचन्द्रदेव के समय तक भगवान् बुद्ध की गणना विष्णु के 9वें अवतार के रूप में प्रसिद्ध थी। यहाँ पर हर (शिव)–हरि (विष्णु)–जिन(बुद्ध) के ऐतिहासिक एवं कलाभूत सामग्री प्रमाण के रूप में उपलब्ध होती है जो काशी में शैव वैष्णव सम्मिश्र सांस्कृतिक परम्परा की प्रतिष्ठा करती है।

काशी में विष्णु को समर्पित दूसरा प्राचीन मन्दिर बिन्दुमाधव का है। बिन्दुमाधव के पहले मन्दिर का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु जिस मन्दिर को तोड़कर औरंगजेब ने उसके स्थान पर मस्जिद बनवाई थी, उसका उल्लेख फ्रांसीसी यात्री टवर्नियर ने अपनी यात्रा विवरण में दिया है जिसमें मन्दिर की भव्यता और आसन पर मनुष्यपरिमाण की (रत्नाभूषणों से सज्जित) बिन्दु माधव की प्रतिमा का वर्णन किया है।

उपरिवर्णित साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों के साथ यहाँ भारत कला भवन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संग्रहित दो विशिष्ट प्रतिमाओं का अध्ययन प्रस्तुत है। जो क्रमशः वैष्णव और शैव परम्परा से आती हैं तथा काशी की शैव वैष्णव परम्परा को पुष्ट एवं प्रबलित करती हैं।

गोवर्धनधारी कृष्ण

भारत कला भवन की गुप्तकालीन लगभग ४थी सदी ई. की चुनार के बलुआ पत्थर से निर्मित वाराणसी के बकरियाकुण्ड से प्राप्त गोवर्धनधारी कृष्ण[15] की प्रतिमा के निर्माण का उद्देश्य क्या रहा होगा इस बात का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि ४थी–५वी सदी ई. के प्राप्त मन्दिर आकार में छोटे बने हैं, जिनके गर्भगृह में या किसी अन्य भाग पर इस तरह की विशाल प्रतिमा नहीं स्थापित की जा सकती है। ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रतिमा उस परम्परा में बनाई गयी है जैसा कि कुषाण काल की बोधिसत्व मूर्तियां और मौर्य–शुंग काल की यक्ष–यक्षी की स्वतंत्र मूर्तियां स्थापित होती थी। ऐसा लगता है कि यह प्रतिमा भी किसी मन्दिर का अंग न होकर किसी वृक्ष के नीचे या चबूतरे पर स्वतंत्र रूप से स्थापित की गयी रही होगी।

सन्दर्भित प्रतिमा कृष्णलीला के अंग के रूप में बनी नहीं जान पड़ती। गोवर्धनधारी की कुछ अन्य मूर्तियों का अंकन कृष्णलीला के साथ हुआ है जहाँ गोवर्धनधारी को अलग फलक में उत्कीर्ण किया गया है। मथुरा से प्राप्त परवर्ती काल की मूर्ति जिसमें बीच में गोवर्धनधारी कृष्ण हैं तथा पट्ट के अगल–बगल गायों व गोप–गोपियों का अंकन है जिसमें उनका स्वतंत्र गोवर्धनधारी स्वरूप ही प्रदर्शित है। इसी प्रकार मीराबाई गोवर्धनधारी के इसी स्वरूप का अपने पदों में 'मेरे तो गिरधर गोपाल' बार–बार उल्लेख किया है। दीपावली के बाद द्वितीया के दिन होने वाले गोवर्धन पूजा की परम्परा आज भी समाज में प्रचलित है जो गोवर्धनधारी के स्वतंत्र स्वरूप को ही प्रदर्शित करता है।

भारत कला भवन की गोवर्धनधारी कृष्ण प्रतिमा में बालक कृष्ण को त्रिभंग स्थानक मुद्रा में अंकित किया गया है। कृष्ण के दोनों कंधों तक लटकते घुंघराले बाल, गले में बघनखा वाला हार, हाथ में कंगन तथा कमर में कटिकाछिनी का अंकन है जो उनके बाल रूप का द्योतक है। कृष्ण का दाहिना हाथ दायें जंघे पर है और बायें हाथ की हथेली पर वे गोवर्धनपर्वत धारण किये हुए हैं। यद्यपि इस मूर्ति की नासिका एवं होठ रगड़ खाकर घिसा हुआ है तथा दोनों पैर के नीचे का भाग व इसकी दोनों भुजाएं खण्डित हैं किन्तु मूर्ति अपनी समग्रता का प्रभाव देती है।

गोवर्धन स्वरूप की मूर्ति का अंकन कम ही प्राप्त है इस सन्दर्भ में मण्डोर के द्वार स्तम्भ पर उत्कीर्ण मूर्ति तथा बीकानेर संग्रहालय की रंगमहल की मृण्मूर्ति[16] उल्लिखित की जा सकती है और भारी भरकम रूप में अंकित की जाने वाली परवर्ती काल की राजकीय संग्रहालय, मथुरा की मूर्ति[17] उल्लेखनीय है। इन सब में भारत कला भवन की प्रतिमा अपनी विशिष्टता रखती है।

मूर्तिशिल्प

ज्ञात गोवर्धनधारी प्रतिमाओं में भारत कला भवन की प्रतिमा मूर्तिशिल्प का एक उत्कृष्ट नमूना है। विशालकाय प्रतिमा होते हुए भी इसमें शिशु.बोध के भाव का अविकल प्रवाह है साथ ही कृष्ण द्वारा बायें हाथ से पर्वत उठाने का संतुलन, सहजता व उत्साह के साथ–साथ देवत्व के भाव का स्पष्ट निदर्शन इस प्रतिमा की शिल्पगत विशेषता है।[18]

एकमुख शिवलिंग

भारत कला भवन में सुरक्षित राजघाट, उत्तर प्रदेश से प्राप्त प्रारम्भिक गुप्तकाल लगभग ४थी सदी ई. का एकमुख शिवलिंग[18] अपनी विलक्षणता एवं प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टि से विशिष्ट शिवलिंग का पिछला भाग चपटा है तथा सम्मुख भाग से शिवलिंग बना है। इस लिंग की रूपरेखा बेलनाकार है जिस पर न केवल एक मुख बना है बल्कि शिव का वक्ष भाग भी अंकित है मानो मूर्ति लिंग के निचले भाग से बाहर निकल रही हो। इसी प्रकार का अंकन एलिफेंटा की महेश मूर्ति में दृष्टिगत होती है। इस प्रकार से यह एकमुखी शिवलिंग शिव के स्वयंभू स्वरूप को प्रदर्शित करती है और यह प्रतीक एवं प्रतिमा या लिंग और मूर्ति के संयुक्त रूप का द्योतक है। शिव के माथे पर खड़ा तीसरा नेत्र बना है। तंरगित बाल ऊपर की तरफ जूड़े के रूप में बंधा है तथा कुछ नीचे कानों के ऊपर से लटक रहे हैं।

मूर्तिशिल्प

यह विशिष्ट कृति अपने प्रतिमाशास्त्रीय विलक्षणता के साथ ही मूर्तिरचना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण उदाहरण है। शिल्पी ने इस मुख लिंग के चेहरे तथा आंखों की बनावट से देवत्व का भाग प्रदर्शित करने में पूर्णतया सफलता प्राप्त की है। यहाँ उभरी हुई पूर्ण खुली आंखों तथा चेहरे पर शान्ति तथा अध्यात्मिकता का भाव व्याप्त है। लिंग के ऊपर आवक्ष चेहरे को बनाकर शिल्पी ने शिव के स्वयंभू स्वरूप के प्रकटन का सटीक अंकन किया है जो उसकी उत्कृष्ट शिल्परचना का द्योतक है।

उपसंहार

उपरोक्त साहित्यिक, पुरातात्त्विक तथा कलाकृतियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है कि काशी अनादि काल से ही शैव–वैष्णव सम्मिश्रित परम्परा की पोषक रही है। जो आज तक यहाँ की परम्पराओं, लोक आस्था एवं लोक विश्वासों के रूप में जन–जन के अन्तःकरण तथा उनकी जीवन पद्धति में रचा बसा है।

1. ऋग्वेद, 3.30.5; 8.78.10
2. अथर्ववेद, 7.104.8
3. अथर्ववेद, शौनक संहिता, 8.4.8 एवं पैप्पलाद संहिता, 16.9.8
4. अथर्ववेदए 4.7.1
5.नारदपुराण, त्रिस्थली सेतु, पृ. 216
6. हेमाद्रौ वामनपुराण, त्रिस्थली सेतु, पृ. 216
7. ब्रह्मवैवर्तपुराण, त्रिस्थली सेतु, पृ. 101
8. स्कन्दपुराण, काशी खण्ड, 97 / 15
9. स्कन्दपुराण, काशी खण्ड, 61ण्207–209
10. स्कन्दपुराण, काशी खण्ड, त्रिस्थली सेतु, पृ. 173
11. स्कन्दपुराणक्काशी खण्ड, 98ण्31
12. त्रिस्थली सेतु, पृ. 209
13. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग–9, पृ. 325 पंक्ति 25–26 श्लोक 23
14. वही, श्लोक 16
15. पंजीयन संख्या १४६
16. पंजीकरण संख्या २२६
17. पंजीयन संख्या डी.४७
18. पंजीयन संख्या २३६४६

घोषणा पत्र

फॉर्म–4 नियम–8

समाचार पत्र का नाम	–	**अनन्त अनादि (AANANT ANAADI)**
समाचार पत्र की पंजीकरण संख्या	–	**UPHIN/26/A1089**
भाषा	–	**हिन्दी**
प्रकाशन की अवधि	–	**त्रैमासिक**
प्रकाशन प्रारंभ वर्ष	–	**2026**
प्रकाशन प्रारूप	–	**मुद्रित (Print)**
प्रकाशन का विषय क्षेत्र –	–	**बहुविषयक (Multidisciplinary Subjects)**
प्रकाशक का नाम	–	**सुमित राय (Independent Publisher)**
पता	–	**119, ग्राम– जगन्नाथ छपरा, पोस्ट–घाटी, तहसील–भाटपार रानी, जिला– देवरिया (उत्तर प्रदेश)– 274705**
मुद्रक का नाम	–	**भारती प्रकाशन**
पता	–	**शॉप नं. 45, धर्म संघ कॉम्प्लेक्स, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी उत्तर प्रदेश – 221010**
सम्पादक का नाम	–	**सुमित राय**
प्रकाशन स्थल	–	**119, ग्राम– जगन्नाथ छपरा, पोस्ट–घाटी, तहसील–भाटपार रानी, जिला– देवरिया (उत्तर प्रदेश)– 274705**

मैं सुमित राय प्रकाशक अनन्त अनादि घोषणा करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

दिनाँक 05 मार्च, 2026

सुमित राय (प्रकाशक)

भाषा और संचार शिक्षा का अंतर्सबंध

प्रोफेसर राघवेंद्र मिश्रा

अर्पिता प्रियदर्शी, शोधार्थी
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक मध्य प्रदेश

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य स्वभावतः अपने भाव, अपने विचार दूसरे मनुष्य तक पहुँचाता और दूसरे के भावों को स्वयं समझना चाहता है। इसके लिए वह जिन माध्यमों को अपनाता है, भाषा उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मानव के क्रियाकलापों और व्यवहार का साधन, उसकी प्रत्येक वाचिक क्रिया का आधार और विचारों का माध्यम होने के कारण अपने व्यापक अर्थ में भाषा वह साधन है जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी तक अपने भाव, विचार या अभिप्राय प्रेषित करता है और दूसरे के भाव विचार या अभिप्राय स्वयं ग्रहण करता है। भाषा के दो रूप हो सकते हैं– पहला मूक भाषा दूसरी वाक भाषा। मूक भाषा से तात्पर्य अभिव्यक्ति के उन माध्यमों से है जिनमें वाणी का उपयोग नहीं होता। हम अंग–विक्षेप (Gesture) अर्थात् हस्त संचालन द्वारा गर्दन हिलाकर, नेत्रों के द्वारा और संकेतों (sign or signal) द्वारा जो भी अभिव्यक्ति करते हैं उसका माध्यम मूक भाषा ही है। मुखर साधनों (Spoken language) में पशु–पक्षियों की भाषा हमारे लिए अव्यक्त वाक होने के कारण व्याख्या योग्य नहीं है। अव्यक्त वाक से तात्पर्य अस्पष्ट और अनिश्चित वाणी से है। अभिप्राय यह है कि पशु–पक्षियों की भाषा हमारे लिए भावाभिव्यंजना में असमर्थ है क्योंकि हम उनकी भाषा नहीं समझते। तुलसी के शब्दों में कह सकते हैं खग जाने खग ही की भाषा। मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की बोली के पीछे चिन्तन होने के कारण उसका स्वरूप निश्चित है। उसका अध्ययन विश्लेषण किया जा सकता है। यही मानव द्वारा बोली जाने वाली 'भाषा' वस्तुतः भाषा के अन्तर्गत आती है।

इस तरह भाषा का प्रयोजन वाणी द्वारा प्रयुक्त ऐसी ध्वनियों से है जो अध्ययन द्वारा विश्लेषित हो और जिनके हेर–फेर से शब्द बन सकें।

व्याकरणिक दृष्टि से भाषा शब्द का यदि हम विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि भाषा शब्द संस्कृत की भाष धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है व्यक्त वाणी। इसके आधार पर भाषा की परिभाषा है–व्यक्त वाणी में बोलना । किन्तु भाषा की यह परिभाषा भाषा के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करती क्योंकि भाषा केवल विचाराभिव्यक्ति का साधन ही नहीं है बल्कि विचारों का माध्यम भी है। भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है; मानव के उच्चारणयोग्य अवयवों से निःसृत सार्थक ध्वनिसमूह है; यादृच्छिक है; प्रतीकों की व्यवस्था है, समाजसापेक्ष है और भाषा का प्रयोजन वक्ता के विचारों को श्रोता तक पहुँचाना है। भाषा एक ओर वर्णनात्मक ध्वनि (सार्थक ध्वनियों) से सम्बद्ध है और दूसरी ओर भाव और विचारों से। इस प्रकार हमारी भाषा का आधार भौतिक और मानसिक है। यहाँ हम यह व्याख्या नहीं करेंगे कि भाषा क्या है? यहाँ हम भाषा के व्यावहारिक प्रयोग पर विचार करेंगे कि किस तरह भाषा हमारे लिए अपरिहार्य है, किस तरह भाषा का सही सही प्रयोग हमारे भावों और विचारों को पूर्ण रूप से प्रेषित करने में समर्थ होता है। संस्कृत में एक स्थान कहा गया है कि एकः शब्दः सम्यकुज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति। यानी यदि एक शब्द भली प्रकार जानकर सही ढंग से प्रयोग किया जाय तो स्वर्गलोक में कामधेनु (सभी इच्छाओं को पूरा करने वाली) की तरह प्रभावशाली होता है। भाषा की अपरिहार्य महत्ता को समझकर ही हमारे वेद वाक् की वन्दना करते हैं। हमारे चिन्तक यह मानते हैं कि यदि भाषा नहीं होती तो यह संसार अंधकारमय ही रह जाताय; भाषा के विस्तार से ही संसार का विस्तार होता है।

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।
इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्,
यदि शब्दावङ्यज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। काव्यादर्श (दण्डी) 1/41

कुछ क्षण के लिए भाषाविहीन समाज की परिकल्पना कीजिए, आपकी सारी गतिशीलता तुरन्त बाधित हो जाएगी, आप अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाएंगे। एक छटपटाहट, एक घुटन, एक विवशता आप पर हावी होती जाएगी और आपकी स्थिति उस गूँगे की तरह हो जाएगी, जो गुड़ खाता है पर उसकी मिठास की अनुभूति को बाँट नहीं सकता। इसीलिए हमारा सारा वैदिक वाङ्मय भाषा के महत्व को स्वीकार करता है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र ! तू हमें अन्न दे, बल दे, सत्य दे और मननशक्ति से सम्पन्न वाणी दे। वेदों में ऋषि ऐसी वाणी को प्राप्त करने की कामना करते हैं जो मननशक्ति और विद्या से सम्पन्न हो, जिसमें सबको प्रकाश देने वाली सूर्य की सी दृष्टि हो, वायु सी प्राणदायिनी शक्ति हो, अन्तरिक्ष से कान हों और सब कुछ आत्मसात करने में समर्थ पृथ्वी सा शरीर हो।

सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षत्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्यावाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा– अथर्ववेद, 5/10/8

'न्यू टेस्टामेन्ट' में भी कहा गया है In the beginning was the word and the word was with God and the word was God. यह माना जा सकता है कि सारे विश्व में भाषा की

शक्ति के विषय में विचार किया गया है। हमारा काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन यदि भाषा के वैशिष्ट्य पर विचार करता रहा है तो पश्चिम में रूसी रूपवाद, संरचनावाद, शैलीविज्ञान, नई समीक्षा उत्तर आधुनिक समीक्षा दृष्टियाँ भी इस पर विचार करती आई हैं। पश्चिमी चिन्तक रोमन याकोब्सन भाषा के घटक और उसके प्रकार्य के विषय में जो अभिमत प्रस्तुत करते हैं, वह इस बात का प्रमाण है। उनके अनुसार भाषा के छः घटक और उसके छः प्रकार्य हैं :

वक्ता श्रोता संदर्भ संदेश सम्पर्क संहिता

वक्ता सम्पर्क स्थापक माध्यम अर्थात् भाषा द्वारा सन्दर्भयुक्त संदेश जिसके पीछे एक संहिता होती है– भेजता है और श्रोता उस संदेश को ग्रहण करता है। सन्देश भेजने में वक्ता के मनस्तत्व का भी योगदान रहता है, श्रोता के प्रति उसके रुख की भी प्रतीति होती है। उसका उद्देश्य संदेश द्वारा श्रोता का ध्यानाकर्षण करना होता है। (Linguistics and Poetics, P 299-300)

अज्ञेय लिखते हैं – 'भाषा की शक्ति वह नहीं कि उसके सहारे सम्प्रेषण होता है। शक्ति इसमें है कि उसके सहारे, पहचान का सम्बन्ध बनता है, जिसमें सम्प्रेषण सार्थक होता है। आपके शब्द और आपका व्यवहार आपके विषय में दूसरों के मन में एक अवधारणा बनाते हैं कि आप किस प्रकार के व्यक्ति हैं, सकारात्मक सोच वाले हैं, नकारात्मक सोच वाले हैं या निर्णयात्मक व्यक्तित्व वाले हैं। विद्वानों का कहना है कि आपके व्यवहार के तीन पक्ष हैं–

1. सहिष्णु (यहाँ दब्बू के अर्थ में इस शब्द को लें) (Submissive behaviour)
2. आक्रामक (Aggressive Behaviour) और
3. निश्चयात्मक (Assertive Behaviour)

प्रभावशाली संचार के लिए आपका निश्चयात्मक होना बहुत आवश्यक है। यदि आप दब्बू हैं तो अपने विचारों और अनुभूतियों को सम्यक् रूपेण प्रेषित नहीं कर सकेंगे; यदि आक्रामक हैं तो आपकी अभिव्यति दूसरे को चोट पहुँचाएगी और यदि आप विश्वास के साथ, दूसरों को चोट पहुँचाए बिना अपने विचारों, अनुभूतियों और विश्वासों को प्रेषित करते हैं, तो आपका संचार सर्वाधिक सफल है। हम कह सकते हैं कि अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए सहिष्णुता और आक्रामकता का सन्तुलन बनाते हुए अपनी बात कहनी चाहिए।

The Essence of Effective Communication, Adrien Buckley और इसके लिए शब्दचयन में सावधानी रखना जरूरी है। संस्कृत में एक श्लोक है –

दूरात शोभते मूर्खः लम्ब शाटपटावृतः ।
निर्गन्धा इव किंशुकाः यावत्किंचिन्नभाषते ।।

रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित मूर्ख व्यक्ति दूर से ही तब तक सुशोभित होता है, जब तक कुछ बोलता नहीं है। वह किंशुक के फूलो के समान है, जो देखने में बहुत सुन्दर हैं, पर जिनमें गन्ध नहीं है।

जनसंचार और भाषा :–

जनसंचार में एक या एकाधिक व्यक्तियों द्वारा या किसी माध्यम द्वारा किसी सन्दर्भ में संदेश प्रेषित किया जाता है और श्रोता उस संदेश को ग्रहण करता है, उससे प्रभावित होता है और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। जनसंचार के लिए माध्यमों की भूमिका अपरिहार्य है। जनसंचार और उसके माध्यम एक के बिना अधूरे हैं, अपर्याप्त हैं जनसंचार और उसके वाहक माध्यम में अंगांगिभाव है। हम समाचार पत्र पढ़ते हैं, रेडियो सुनते हैं, दूरदर्शन देखते हैं कम्प्यूटर में अपने भाव और विचार, अपने लेख टाइप करते हैं, अपनी कलात्मकता को आकार देते हैं, ई–मेल द्वारा अपने संदेश भेजते हैं, ब्लॉग द्वारा अपने विचारों को परस्पर बाँटते हैं, ट्विटर, फेसबुक द्वारा अपने विचारों को पूरे विश्व में पहुंचाते हैं यानी सन्देश को पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों तक सम्प्रेषित करने के लिए विभिन्न स्रोत मौजूद हैं और इन माध्यमों की महत्ता के विषय में हम अच्छी तरह से परिचित हैं। यहाँ तक मार्शल मैक्लुहान का तो सूत्रवाक्य ही है कि 'माध्यम ही संदेश है'। फिर भी मुख्य तो संदेश ही है और संदेश और भाषा एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि संचार को व्यवस्था देने वाला पहला माध्यम भाषा ही है। प्रेस हो या मुद्रित शब्द, रेडियो हो या चलचित्र या दूरदर्शन जनसंचार का प्रत्येक माध्यम भाषा से जुड़ा है।

जनसंचार की भाषा के मुख्य दो रूप हैं– मुद्रित और श्रव्य मुद्रित भाषा के लिए साक्षर होना आवश्यक है श्रव्य के लिए नहीं। आपको यह तो ज्ञात ही है कि भाषा के मुद्रित रूप के विकसित होने के पहले से भाषा के श्रव्य रूप अस्तित्व है। हमारी वैदिक परम्परा श्रुत परम्परा ही है। सहस्रों पद, भजन– गेय परम्परा से ही संरक्षित हुए हैं। शब्द के अलावा ध्वनियों, संकेतों, अभिनयादि के द्वारा भी भाव समझ सकते हैं, मौन की भी एक भाषा होती है। पुस्तकों, सन्दर्भग्रन्थों, पत्रिकाओं, समाचारपत्रों में मुद्रित शब्द का ही सारा खेल है, तो आकाशवाणी, दूरदर्शन, आदि में भाषा का श्रव्य दृश्य रूप प्रयुक्त होता है। संक्षेप में जनसंचार के मुख्य घटक– समाचारपत्र, रेडियो, दूरदर्शन तथा चलचित्र भाषा के विविध रूपों का व्यवहार करते हैं। क्योंकि भाषा ही वह संचार व्यवस्था है जिसमें मानव के सारे क्रियाकलाप आ जाते हैं। भाषिक आचरण ने ही मनुष्य को मनुष्येतर प्राणियों से अलग प्रमाणित किया है। इसलिए संचार माध्यमों – चाहे वह प्रेस हो या इलैक्ट्रॉनिक माध्यम उनके विकास की कल्पना भाषा के बिना नहीं की जा सकती है। जनसंचार माध्यमों के विकास के साथ साथ भाषा का विकास और भाषा के विकास के साथ संचार माध्यमों का विकास होता चलता है। भाषिक प्रयोगों में समय और संसाधनों के अनुरूप परिवर्तन होते जाते हैं। आज नये भाषिक प्रयोग, नई शैलियाँ, नये अर्थ भाषाकोश में जुड़ रहे हैं। द्विभाषिकता या बहुभाषिक ज्ञान की महत्ता अब अच्छी तरह समझ में आने लगी है। अनुवाद का तो महत्व इस बात से ही सिद्ध हो जाता है कि आज अनुवाद को एक विज्ञान के रूप में देखा जाता है। तकनीकी विकास ने यूनीकोड द्वारा भाषा की अपरिहार्यता को सिद्ध किया है।

यहाँ भारत की भाषाओं और जनसंचार माध्यमों में प्रयुक्त हिन्दी का उल्लेख करना आवश्यक है। हमारे संविधान की आठवीं अनुसूची में असमी, बांग्ला, बोडो, डोगरी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, कोकणी, मैथिली, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सन्थाली, सिन्धी, तमिल, तेलगु, उर्दू आदि 22 भाषाएँ शामिल हैं हमारे बहुभाषी राष्ट्र में अनेक सरकारी और गैरसरकारी संस्थान भाषाओं के प्रचार–प्रसार में जुटे हैं। यहाँ एक सार्वदेशिक प्रचार

भाषा के रूप में हिन्दी को प्रचारित प्रसारित किया जाता रहा है। हिन्दी के सन्दर्भ में बात करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना है कि सभी भारतीय भाषाओं के समानान्तर अंग्रेजी भाषा का भी प्रचार–प्रसार भारत में निरन्तर हो रहा है।

किसी भी समाज में भाषा के विविध रूपों की एक सीमा होती है और इसका निर्धारण और नियन्त्रण समाज द्वारा होता है। भारत में औद्योगीकरण के प्रभाव से अंग्रेजी के प्रयोग का आधिक्य होने लगा है तो वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी का भी प्रभाव बढ़ा है। हिन्दी के प्रयोग में आज अंग्रेजी के शब्दों का बाहुल्य है। हमारे भाषाविदों, चिन्तकों, विचारकों का एक वर्ग इस स्थिति से चिन्तित है तो दूसरा इसे स्वीकार करने की बात करता है। हम यहाँ भाषा विषयक विवाद में न पड़ते हुए जनसंचार माध्यमों में प्रयुक्त होने वाली भाषा की ही चर्चा करेंगे।

आज की दुनिया को विज्ञापनी दुनिया कहा जाता है। एक व्यवसाय के रूप में विज्ञापन आज अपनी गहरी पकड़ बना चुका है। वास्तव में विज्ञापनों ने जनसंचार माध्यमों का आश्रय लेकर पूरे विश्व को अपने प्रभाव में जकड़ा हुआ है। विज्ञापन की भाषा बनावटी होती है। क्योंकि विज्ञापनों में अतिरंजना द्वारा अपने उत्पाद को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न विज्ञापनदाताओं द्वारा किया जाता है। एक सक्षम और सफल विज्ञापन के लिए आकर्षक गुण, श्रवणीयता एवं सुपाठ्यता, स्मरणीयता तथा विक्रय की शक्ति का होना जरूरी है और इसके लिए शब्द की सामर्थ्य को पहचानकर उसकी प्रयुक्ति की जाती है। समाचारपत्र, रेडियो तथा दूरदर्शन के विज्ञापनों की भाषा अलग अलग होती है। समाचार पत्रों के विज्ञापनों की भाषा में स्थानीय उपभोक्ता की आवश्यकता के अनुसार सामाजिक या सांस्कृतिक सन्दर्भ होते हैं, रेडियो में श्रव्यता पर आधारित होने के कारण शब्द चयन और उच्चरण पर बल दिया जाता है और दूरदर्शन में दृश्य–श्रव्य दोनों का प्रयोग होने से शब्दों के उच्चारण के साथ साथ दृश्यों के प्रस्तुतीकरण की ओर ध्यान दिया जाता है। भाषायी लचीलापन, कोमलता, संक्षिप्तता तथा प्रभावोत्पादकता प्रचार माध्यमों के विज्ञापनों की भाषा का वैशिष्ट्य है।

समाचार पत्रपत्रिकाओं की भाषा विज्ञापनी भाषा से अलग होती है। भाषायी औजार किस तरह से जनमन को प्रभावित करते हैं, हिन्दी की स्वतन्त्रतापूर्व की पत्रकारिता पर नजर डालते ही वह स्पष्ट हो जाता है। आज समाचार पत्रों की भाषा के वे तेवर तो नहीं हैं, अनेकशः भाषा का हिंग्लिशी प्रयोग हावी होता जा रहा है, तब भी भाषिक प्रयोग पत्र–पत्रिकाओं के तेवर व्यक्त करने में समर्थ हैं। रंगमंच की भाषा लिखित भाषा और बोली हुई भाषा के बीच की कड़ी कही जाती है। हिन्दी के सन्दर्भ में रंगमंच की भाषा का कोई मुहावरा या अंदाज नहीं बन पाया है। सिनेमा की भाषा ने भाषाई विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सिनेमा की भाषा ने हिन्दी को देश देशान्तर में प्रसारित किया है।

रेडियो ने जनसंचार और भाषा के सन्दर्भ में अहम भूमिका निभाई है। रेडियो की प्रकृति मुद्रण माध्यमों तथा श्रव्य–दृश्य माध्यमों से अलग है। वहाँ वाक् ध्वनि प्रभाव तथा चुप्पी– ये तीन कारक मिलकर भाषा का निर्माण करते हैं। श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए वक्ता को सुर (pitch) ताल (tempo) और स्वर (tone), में विविधता रखनी होती है। हिन्दी वार्ता, नाटक, एकांकी, रूपक, कविताएँ, अनुवाद, आँखों देखा हाल, कमेन्ट्री आदि के माध्यम से भाषा का प्रचार प्रसार बहुत बढ़ा है। हालाँकि दृश्य माध्यमों का विस्तार होने से श्रव्य माध्यम अब पीछे छूटने लगे हैं, पर भाषा के प्रचार प्रसार में आकाशवाणी के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

दूरदर्शन ने भाषा के प्रसार प्रचार को नए आयाम दिये हैं। मेकबोय का कहना है– दुनियाभर के टेलीविजन नेटवर्क देखते हुए मैं हमेशा महसूस करता हूँ कि टेलीविजन में भाषा पक्ष ही सबसे ज्यादा हावी रहता है। भाषा का प्रयोग टेलीविजन से भले किसी भी रूप में शब्द, वाक्य, ध्वनि में हो, टेलीविजन की भाषा पर ध्वनि के साथ भाषा का जो असर देखा गया है, वही शायद इस मीडिया की सबसे बड़ी ताकत है। कम्प्यूटर, इन्टरनेट आदि ने भाषा की अपार सम्भावनाओं के दरवाजे खोल दिये हैं।

जीवन व्यापार में भाषा की भूमिका सर्वविदित है . मनुष्य के कृत्रिम आविष्कारों में भाषा निश्चित ही सर्वोत्कृष्ट है. वह प्रतीक (अर्थात कुछ भिन्न का विकल्प या अनुवाद!) होने पर भी कितनी समर्थ और शक्तिशाली व्यवस्था है इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो भाषा से अछूता हो. जागरण हो या स्वप्न हम भाषा की दुनिया में ही जीते हैं. हमारी भावनाएं, हास परिहास , पीड़ा की अभिव्यक्तियों और संवाद को संभव बनाते हुए भाषा सामाजिक जीवन को संयोजित करती है. उसी के माध्यम से हम दुनिया देखते भी हैं और रचते भी हैं. भाषा की बेजोड़ सर्जनात्मक शक्ति साहित्य कला और संस्कृति के अन्यान्य पक्षों में प्रतिविम्बित होती है. इस तरह भाषा हमारे अस्तित्व की सीमाएं तंय करती चलती है. विभिन्न प्रकार के ज्ञान–विज्ञान के संकलन, संचार और प्रसार के लिए भाषा अपरिहार्य हो चुकी है . भाषा के आलोक से ही हम काल का भी अतिक्रमण कर पाते हैं और संस्कृति का प्रवाह बना रहता है . इसलिए यह अतिशयोक्ति नहीं है कि भाषा का वैभव ही असली वैभव और आभूषण हैः वाग्भूषणम् भूषणम् . वाक् की शक्ति को भारत में बहुत पहले ही पहचान लिया गया था और वेद के वाक्सूक्त में उसका बड़ा विस्तृत विवेचन मिलता है. परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी आदि वाक प्रस्फुटन के विभिन्न स्तरों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है . शब्द की शक्ति को बड़ी बारीकी से समझा गया है और भाषा को लक्ष्य कर के जो चिंतन परम्परा शुरू हुई वह पाणिनि के द्वारा व्यवस्थित हुई और आगे चल कर उसका बड़ा विस्तार हुआ. शिक्षा, व्याकरण, काव्य शास्त्र, नाट्य शास्त्र तथा तंत्र आदि में भाषा के प्रति व्यापक, गहन और प्रामाणिक अभिरुचि मिलती है. ध्वनि रूपों से गठित वर्ण माला में अक्षर (अर्थात जो अक्षय हो !) होते हैं और शब्द ब्रह्म की उपासना का विधान है. इन सबको देख कर यही लगता है कि भारतीय मनीषा भाषा को लेकर सदा से गंभीर रही है और इसी का परिणाम है कि सहस्राधिक वर्षों से होते रहे विदेशी आक्रांताओं के प्रहार के बावजूद यह ज्ञान राशि अभी भी जीवित है. इसकी उपादेयता और रक्षा को ले कर चिंता व्यक्त की जाती है पर हमारी भाषा नीति और शिक्षा के आयोजन में अभी भी जरूरी संजीदगी नहीं आ सकी है. इसका स्पष्ट कारण हमारी औपनिवेशिक मनोवृत्ति है जो आवरण का कार्य कर रही है और जिसे हम

अकाट्य नियति मान बैठे हैं. इसका परिणाम यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में अभी भी स्वाधीनता और स्वराज्य हमसे कोसों दूर है. भाषा और संस्कृति साथ–साथ चलते हैं यदि सोच–विचार एक भाषा में करें और शेष जीवन दूसरी भाषा में जिए तो भाषा और जीवन दोनों में ही प्रामाणिकता क्षतिग्रस्त होती जायगी. दुर्भाग्य से आज यही घटित हो रहा है. दोफांके का जीवन जीने के लिए हम सब अभिशप्त हो चले हैं. ऐसे में एक विभाजित मन वाले संशयग्रस्त व्यक्तित्व की रचना होती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. Language, Literature and Education in Multicultural Societies : Collaborative Research on
1. Africa, Edited by Kenneth Harrow and Kizitus Mpoche] Cambridge Scholars Publishing 2008
2. Language Planning In Education (Article On Internet)
3. Language policy, language education, language rights : Indigenous, immigrant and international perspectives Nancyh-Hornberger, Graduate School of Education
4. University of Pennsylvania
5. The Nature of Design Ecology, Culture & Human Intention David W- Orr, 2002, Oxford University Press.
6. भारतीय शिक्षा का इतिहास, शंकर विजयवर्गीय, राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली 2005
7. व्यक्ति, समाज और संस्कार, रामाश्रय राय, ज्ञान गंगा प्रकाशन 2004
8. प्राथमिक कक्षाएँ एवं संवाद–जितेन्द्र कुमार, शैक्षणिक संदर्थ, अंक–१५, होशंगाबाद
9. भारतीय संस्कृति का स्वरुप–अमितकुमार शर्मा, कौटिल्य प्रकाशन, दिल्ली, २००६
10. संस्कृति, सहित्य और स्त्री, रमेश कुमारी, अकादमिक प्रतिभा, नई दिल्ली, २००८
11. भारत की भाषाई विडंबना और उसका मुकाबला, सुनील, 'शिक्षा और 'भाषा' पर आयोजित राष्ट्रीय कार्यशाला, होशंगाबाद, 2011
12. भारत के शिक्षित लोगों का बौद्धिक अंतर्द्बंद्ब, दिपक भारतदीप, हिंद केसरी पत्रिका, 2011
13. संचार क्राति, संस्कृति और समाज, 2011, www.Nayajamana.blogspot.com
14. तद्भव (पत्रिका–विशिष्ट संचयन) – चाहे लक्ष अनचाहे परिणाम –औपनिवेशिक उत्तर भारत में स्त्री शिक्षा और पढ़ने का भय– चारु गुप्ता पृष्ठ– 43–51 कांबले प्रकाश अभिमन्यु, पी.एच.डी. हिंदी अनुवाद कमरा नं.२१ (ओल्ड), ब्रम्हपुत्र छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली–११००६७ Prakash.office@gmail.com
15. भारतीय संस्कृति का स्वरुप–अमितकुमार शर्मा, कौटिल्य प्रकाशन, दिल्ली, २००६ पृष्ठ– १६
16. समस्या और समाधान–डॉ.नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, १६७१ पृष्ठ–४
17. समस्या और समाधान–डॉ.नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, १६७१ पृष्ठ–६
18. मानक शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक समाजशास्त्र – हरिवंश तरुण, प्रकाशन संस्थान, २००६ पृष्ठ–२६७
19. सामन्य भाषाविज्ञान– वैश्ना नारंग, क्षितिज प्रकाशन, नई दिल्ली, १६६६ पृष्ठ–४
20. विजेंद्र कुमार वशिष्ठ, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, २००५
21. विजेंद्र कुमार वशिष्ठ, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, २००५
22. http://www.thefreedictionary.com/society
23. टी. डब्लु. एडर्नो, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६ पृष्ठ–१६

छत्तीसगढ़ के आरंभिक शैव मठ एवं शैवाचार्य एक आभिलेखिक अध्ययन

डॉ. सुजीत कुमार तिवारी

पोस्ट डॉक्टोरल फेलो (ICSSR)
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
ईमेल– sujitbhu1994@gmail.com । मो. –07839001951

आधुनिक छत्तीसगढ़ जिसे प्राचीन काल में दक्षिण कोसल कहा जाता था, लगभग चौथी–पाँचवी शती ईस्वी से ही शैव धर्म के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में प्रचलित रहा। यहाँ से प्राप्त सैकड़ों शैव मूर्तियों, चार दर्जन से भी अधिक शैव मंदिरों तथा मौद्रिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों की पर्याप्त उपस्थिति से भी प्राचीन छत्तीसगढ़ में शैव धर्म के व्यापक प्रचलन की पुष्टि होती है। इनमें से आभिलेखिक स्रोत यहाँ की शैव परम्परा की सर्वाधिक प्रामाणिक सूचनाएं उपलब्ध कराते हैं। अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि छत्तीसगढ़ में शैव धर्म का प्रचलन तो प्रत्यक्ष रूप से चौथी शती ईस्वी में हो गया था किन्तु दक्षिण कोसल के पाण्डुवंशी राजा महाशिवगुप्त बालार्जुन के समय शैव धर्म को भरपूर राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। इसके द्वारा जारी किये गए दर्जनों अभिलेखों में अपने को परम माहेश्वर कहने के साथ–साथ अनेक शैव मंदिर एवं मठों के निर्माण तथा उनकी देखभाल के लिए पाशुपत, शैव सिद्धांती एवं सोम सिद्धांती शैवाचार्यों को ग्राम दान आदि देने संबंधी सूचनाएं प्राप्त होती हैं। ये शैव मठ वास्तव में न केवल छत्तीसगढ़ के अपितु मध्य भारत के आरंभिक शैव मठों में से एक हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में उपरोक्त पृष्ठभूमि के आलोक में छत्तीसगढ़ के आरंभिक शैव मठों, उनसे संबंधित मंदिरों एवं शैवाचार्यों संबंधी विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन किया गया है।

शैव धर्म के मुख्य रूप से चार उप सम्प्रदाय यथा– पशुपत , शैव, कापालिक एवं कालामुख अति महत्त्वपूर्ण थे। छत्तीसगढ़ में इनमें से चारों का प्रचार–प्रसार था किन्तु शैव सिद्धांती सर्वाधिक लोकप्रिय थे। शैव सिद्धांतियों ने लगभग सातवीं शती ईस्वी में शैव मठों की परम्परा आरम्भ की, जो मुख्यतः शैव साधकों को दीक्षित करने और उनके तप आदि का प्रमुख स्थान था। आभिलेखिक स्रोतों से तीन प्रमुख शैव सिद्धांती मठों की सूचना प्राप्त होती है जिन्हें आमर्दक मठ, मतमयूर मठ तथा गोलकी मठ के नाम से पुकारा गया है। इनमें सर्वाधिक प्राचीन व मूल मठ आमर्दक परम्परा का था। छत्तीसगढ़ में स्थापित मठों का संबंध आमर्दक एवं मतमयूर से था, इस बात की सूचना छत्तीसगढ़ के शासकों द्वारा निर्गत अभिलेखों से प्राप्त होती है।[1] किन्तु इस शोध पत्र का संबंध आरंभिक शैव मठों से होने के कारण हमारे लिए आमर्दक मठ ही प्रासंगिक है।

सिरपुर स्थित बालेश्वर भट्टारक मंदिर परिसर के शैव मठ एवं उनसे संबंधित शैवाचार्य

दक्षिण कोसल का पांडुवंशी राजा महाशिवगुप्त बालार्जुन (690 –750 ईस्वी) शिव का परम अनुयायी था। उसने शैव धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। इसके द्वारा दर्जनों अभिलेख जारी किये गए जो शैव मंदिरों–मठों आदि की स्थापना के साथ–साथ पाशुपत एवं शैव सिद्धांती आचार्यों को ग्राम दान दिए जाने से संबंधित थीं। श्रीपुर (आधुनिक सिरपुर) महाशिवगुप्त की राजधानी थी और इसने यहाँ एक बालेश्वर भट्टारक शिव मंदिर की स्थापना की जो राजकीय प्रकृति का प्रतीत होता है। इस मंदिर परिसर में समय–समय पर शैव मठों का भी निर्माण होता रहा। सिरपुर से महशिवगुप्त गुप्त बालार्जुन के समय की नौ ताम्र पत्र लेखों की एक निधि प्राप्त हुई है, जो इस मंदिर व मंदिर परिसर के अंतर्गत निर्मित शैव मठों के इतिहास को उद्घाटित करता है। इन अभिलेखों में शैव मठों को मठिका कहा गया है।

इनमे से प्रथम लेख महाशिवगुप्त के राज्य वर्ष सैतीस का तथा अंतिम लेख राज्य वर्ष पचपन का है। प्रथम लेख[1] में वर्णित है कि बालेश्वर मंदिर की स्थापना के उपलक्ष में महाशिवगुप्त ने स्वल्पशरकार मार्ग क्षेत्र में स्थित हस्तिपद्रक नामक ग्राम का दान शैवाचार्य व भगवतपद दीर्घशिव के शिष्य व्यपशिव को दिया गया था।[2] उल्लेखनीय है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा लेख में भी वर्णित उपमित व कपिल विमल आचार्य को भगवत कहा गया।[4] अड़तीसवें राज्य वर्ष में जारी किए गए लेख में पुनः शैवाचार्य व्यपशिव को बालेश्वर भट्टारक मंदिर परिसर में एक मठिका के निर्माण तथा यहाँ सत्र आयोजित करने, शिक्षा देने तथा मंदिर के पूजा हेतु आरण्यंग भोग में स्थित भांडागारकट्टक ग्राम का दान दिया गया।[5] यहाँ व्यपशिव को अघोरशिव का प्रशिष्य कहा गया। अड़तीसवे राज्य वर्ष के आठ वर्ष बाद ताम्र पत्र लेख निधि का तीसरा लेख महशिवगुप्त के राज्य वर्ष छियालीस मे जारी किया गया। इस लेख के अनुसार महाशिवगुप्त ने बालेश्वर मंदिर परिसर का और अधिक विस्तार करते हुए परिसर स्थित मठिका के भीतर दयेश्वर–भट्टारक मंदिर की स्थापना करवाई। इसके लिए देव भोग में स्थित भांडागारदंगक नामक ग्राम का दान दिया[5]। यह दान मंदिर की मजबूती के लिए घेरे का निर्माण तथा हर (शिव) के लिए संगीत एवं पूजा किए जाने हेतु दिया गया।[6] इसमे किसी शैवाचार्य का तो नाम नहीं प्राप्त होता किन्तु इस निधि के एक अन्य लेख से शैव सिद्धांती व्यपशिव के ही परम्परा में दान दिए जाने की पुष्टि होती है।[7]

महाशिवगुप्त के राज्य वर्ष अड़तालीस के लेख[8] में बालेश्वर भट्टारक मंदिर के साथ राजा की किसी पत्नी का प्रथम बार उल्लेख प्राप्त होता है। यह दान लेख महाशिवगुप्त की रानी अमरदेवी द्वारा बालेश्वर मंदिर

परिसर स्थित मठिका में अमरेश्वर भट्टारक मंदिर का निर्माण करवाया गया। मंदिर के गर्भगृह में देव भट्टारक (भगवान) की स्थापना के अवसर पर रानी के आग्रह से महाशिवगुप्त ने शैवाचार्य व्यपशिव की परम्परा में व्यपशिव के उतराधिकारी शिष्य अस्त्र शिव को देवद्रुल्लक ग्राम का दान दिया। यह दान सत्र आयोजित करने, शिष्यों तथा उनके शिष्यों को दीक्षित करने और भेंट समारोहों के आयोजन हेतु खर्च करने के लिए था। यह लेख व्यपशिव गुरु–शिष्य परम्परा के विस्तार व राजा की पत्नी द्वारा मंदिर हेतु दिए गए दान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। रानी अमरदेवी से संबंधित एक अन्य तिथिविहीन ताम्र निधि लेख[9] में अमरेश्वर मंदिर का उल्लेख है। लेख में वर्णित है कि यह मंदिर मठिका में न होकर तपोवन से लगे मठिका में व्यपशिव द्वारा स्थापित किया गया था। इस अवसर पर रानी अमरदेवी के आग्रह के बाद महाशिवगुप्त ने कल्लाट–सीमा भोग में आने वाले कदम्ब पाद्रुल्लक ग्राम का दान दिया था। इसके पूर्व के अभिलेख में शैवाचार्य व्यपशिव का उल्लेख नहीं करने की भरपाई इस लेख से हो जाती है। अतः ऐसा लगता है कि यह लेख अड़तालीसवे अथवा इसके ठीक बाद के वर्ष में लिखवाया गया था।

महाशिवगुप्त के समय के प्राप्त ताम्र निधि लेखों में से एक लेख राज्य वर्ष बावन का है[10]। इस लेख में जेज्जट नामक व्यक्ति द्वारा श्रीपुर के बालेश्वर भट्टारक मंदिर स्थित तपोवन में रहने वाले आचार्य अस्त्रशिव जो कि नंदपुर के रहने वाले शैवाचार्य दीर्घशिव के प्रशिष्य व व्यपशिव के शिष्य है, को किक्कीड भुक्ति के अटवितुंग ग्राम का दान दिया गया। लेख में वर्णित जेज्जट कौन था इस विषय में कोई सूचना नहीं प्राप्त होती किन्तु जिस प्रकार से बालेश्वर मंदिर एक राजकीय प्रकृति का मंदिर दिखाई देता है उस आधार पर ऐसा लगता है कि जेज्जट राजपरिवार का ही एक सदस्य रहा हो।[11]

राज्य वर्ष पचपन के एक लेख[12] में महाशिवगुप्त की एक और रानी अम्मादेवी का विवरण आया है। लेख के अनुसार रानी अम्मादेवी ने भी बालेश्वर मंदिर परिसर में अम्मेश्वर –भट्टारक नामक एक मंदिर की स्थापना करवाई। अम्मदेवी के अनुरोध पर स्थाणगुरु (शिक्षक) अस्त्रशिव को ओनी भोग में पड़ने वाले वर्ट्टोंदक नामक ग्राम का दान दिया था। यह दान दो भागों में विभक्त था। इसका आधा भाग मंदिर के जीर्णोंद्धार व पूजा करने के लिए तथा शेष आधा भाग अस्त्रशिव को गुरुदक्षिणा के रूप में प्राप्त था।

संभवतः पचपनवे राज्य वर्ष के ही एक अन्य लेख[13] में पुनः रानी अम्मादेवी का संदर्भ प्राप्त होता है[14]। यह लेख तिथिरहित है किन्तु नताशा बोसमा[15] ने इसे भी राज्य वर्ष पचपन में ही निर्गत हुआ माना है। इस लेख में वर्णित है कि रानी द्वारा अम्मेश्वर–भट्टारक मंदिर को स्वल्पशरकारमार्ग क्षेत्र में स्थित कोशाम्ब्रक ग्राम का दान दिया था। दानग्रहिता के रूप में किसी का भी नाम नहीं मिलता। किन्तु इसी वर्ष के एक अन्य लेख[16] में शैवाचार्य अस्त्रशिव को दान दिए जाने के संदर्भ के कारण यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह दान भी इसी परम्परा के आचार्यों को मिला होगा।[17] लेख में रानी को महाशिवगुप्त को धर्मपत्नी तथा अम्मेश्वर मंदिर को बालेश्वर भट्टारक मंदिर का समीपस्थ कहा गया है। इसे ऐसा प्रकट होता है कि अमरदेवी की तुलना में रानी अम्मादेवी अधिक प्रभावशाली थी।

इस प्रकार राज्य वर्ष सैतीस से पचपनवें वर्ष तक बालेश्वर भट्टारक मंदिर के तथा इसके परिसर में शैव मठ अथवा मठिका के निर्माण, जीर्णोंधार, धार्मिक, शैक्षिक एवं अन्य क्रियाकलापों के लिए शैव सिद्धांती आचार्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। ये शैवाचार्य पूजा–पाठ व देखभाल के साथ–साथ मंदिर के निर्माण कार्यों में भी सक्रिय रहे। लगभग उन्नीस वर्षों तक एक ही गुरु–शिष्य परम्परा के आचार्यों को भूमि दान दिए जा रहे थे। मंदिर एवं मठ को प्राप्त राजकीय सहयोग तथा सिरपुर राजधानी में महाशिवगुप्त के साथ दो रानियों द्वारा एक ही मंदिर परिसर में अन्य मंदिरों–मठों की स्थापना कराया जाना राजकीय संरक्षण की दृष्टि से रोचक तथ्य प्रस्तुत करता है।[18] बालेश्वर भट्टारक मंदिर पांडुवंशकाल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मंदिर था। इस मंदिर से जुड़े शैवाचार्य अवश्य ही राजा के राजगुरु पद को भी सुशोभित करते रहे हो। राजा तथा उनके परिवार की पूर्ण आस्था कम से कम महाशिवगुप्त बालार्जुन के राज्य वर्ष पचपन तथा कुल उन्नीस वर्ष तक शैव सिद्धांती आचार्यों के प्रति रही इसमे कोई संदेह नहीं है।[19]

सिरपुर से प्राप्त इन ताम्र पात्र लेखों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिलेखिक प्रमाण भी है जो शैव सिद्धांती आचार्यों तथा उनसे सम्बद्ध अन्य शाखाओं की सूचनाएं प्रदान करती है। महाशिवगुप्त के समय के सेनाकपाट लेख[20] से छत्तीसगढ़ में शैव सिद्धांती आचार्यों की एक अन्य गुरु–शिष्य परम्परा का विस्तार दिखाई देता है। इस लेख में महाशिवगुप्त के पितामह के समय राजन उपाधि धारी एक ब्राह्मण देवरक्षित के पुत्र का उल्लेख है। इसी देवरक्षित का पुत्र दुर्गरक्षित था महाशिवगुप्त का सेवक (अधिकारी अथवा मंत्री) था। दुर्गरक्षित शिव का परमअनुयायी था। इसने शंभू का एक मंदिर बनवाया। इस उपलक्ष में दो हल माप के बराबर काली मिट्टी युक्त भूमि जो गुडासरकारक ग्राम में स्थित थी, का दान इस मंदिर के लिए किया। दानग्रहीता के रूप में आमर्दक से आने वाले सद्याशिवाचार्य का उल्लेख मिलता है। इसी अभिलेख में आगे सद्याशिव के आद्यात्मिक उतराधिकारी सदाशिवचार्य का भी वर्णन है। दुर्गरक्षित ने शिव के एक और मंदिर का निर्माण करवाया तथा इस सदाशिवाचार्य को चार हल माप के काली मिट्टी युक्त भूमि का दान दिया। इसके अतिरिक्त सदाशिवाचार्य को विनायक ग्राम में स्थित दो हल माप वाली तथा श्रीपर्णनिका नामक ग्राम में स्थित लता नामक स्थान पर दो हल माप वाली काली मिट्टी युक्त भूमि का भी दान प्राप्त हुआ। यद्यपि इस लेख में प्रत्यक्ष रूप से केवल मंदिर स्थापना की चर्चा है किन्तु इस लेख मे एक स्थान पर वर्णित है कि आचार्यों को मंदिर के अंदर निवास करना अनिवार्य था तथा ब्याज पर धन लेने की मनाही थी। इसके अतिरिक्त सेनकपाट लेख[21] की कतिपय पंक्तियों में शैव आचार्यों के लिए कुछ निश्चित लक्ष्य निर्धारित किए गए है जिन्हें इनके द्वारा अवश्य ही पूरा करना था। इन्हे याग, बलि, शैव मत में दीक्षित करने संबंधी उत्सव या समारोह का आयोजन करना, निर्वाण–दक्ष या अंतिम परमसुख की व्याख्या करना, शैव सिद्धांत का प्रतिपादन व निःशुल्क भोजन वितरण सत्र) की व्यवस्था किया जाना था। यह प्रत्येक वर्ष अषाढ़, कार्तिक एवं माघ की पूर्णिमा को किया जाता था। इस प्रकार यह अभिलेख शैव सिद्धांत के प्रचार करने व इसके निमित्त विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों के आयोजन के माध्यम से शैव मत में दीक्षित करने आदि का प्रयास किया जाता था जो शैव मठों की उपस्थिति का द्योतक है।[22]

आरंभिक शैव मठ एवं उनका स्वरूप

महाशिवगुप्त बालार्जुन के समय के अभिलेखों से जिस प्रकार शैवाचार्यों के संस्थागत प्रचार–प्रसार की सूचना मिलती है वह शैव मठ एवं उनकी कार्यप्रणाली की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। चूंकि छत्तीसगढ़ के ये शैव मठ दक्षिण भारत के चोल व मध्य भारत व अन्य क्षेत्रों में फैले कलचुरिकालीन परिपक्व शैव मठों व उनसे जुड़े शैवाचार्यों की परम्परा की तुलना में कम से कम तीन सौ साल पुराने है, इस दृष्टि से इन्होंने कालांतर के शैवाचार्यों के लिए एक आधार तैयार किया। जैसा कि महाशिवगुप्त के अभिलेखों से विदित है, यहाँ के शैव मठ मूलतः शैव मंदिरों के ही अभिन्न भाग थे। इन मठों का मुख्य कार्य शैव मंदिरों की स्थापना में सहयोग के साथ–साथ मुख्य रूप से शैव साधकों को दीक्षित करना था। शैवाचार्यों का मुख्य कार्य समय–समय पर दीक्षा कार्यक्रम का आयोजन करना था। ये राजा के गुरु पद को भी सुशोभित करते थे जैसा की सेनकपाट लेख में शैवाचार्य अस्त्रशिव को गुरु दक्षिणा देने की बात की गई है किन्तु यह गुरु पद अभी उतना व्यापक अथवा संस्थागत नहीं हुआ था जितना परवर्ती चोल व कलचुरियों के समय हो गया था। इसके अतिरिक्त इन मठों व उनसे जुड़े शैवाचार्यों को राजा अथवा राजन्य वर्ग द्वारा ग्राम दान, भूमि दान आदि दिए जाते थे जिससे प्राप्त आय का उपयोग इन मंदिरों–मठों के जीर्णोद्धार, बलि, याग तथा सत्र आदि आयोजित करने मे उपयोग होते थे। कभी–कभी इन्हें व्यक्तिगत (गुरुदक्षिणा के रूप में) ग्राम दान भी दिए जाते थे। जिसका व्यापक स्वरूप परवर्ती काल में इन शैवाचार्यों के राज्य के गुरु के पद पर सुशोभित होने व राजाओं द्वारा अपने राज्य इन्हीं को समर्पित किये जाने के रूप में दिखायी देता है।

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि छत्तीसगढ़ के आरंभिक शैव मठों ने, शैवाचार्यों , विशेषरूप से शैव सिद्धांती आचार्यों की गुरु–शिष्य परम्परा के माध्यम से शैव धर्म की उस निरन्तरता व संगठित प्रचार–प्रसार की पृष्ठभूमि तैयार की जिसने छत्तीसगढ़ में शैव धर्म को व्यापक स्तर पर स्थापित किया। मठों के माध्यम से शैव धर्म में दीक्षित किये जाने वाले कार्यक्रमों ने निश्चित रूप से इस आदिवासी बहुल क्षेत्र को प्रभावित किया होगा, जो यहाँ की वर्तमान शैव परम्परा मे दिखायी भी देता है। बस्तर जैसे आदिवासी बहुलता वाले क्षेत्र में आज भी दर्जन भर प्राचीन शैव मंदिर न केवल संरक्षित है अपितु बस्तर ग्राम के प्राचीन शैव मंदिर में स्थानीय लोगों द्वारा आज भी पूजा की जाती है। अभिलेखों में शैवाचार्यों का एक कार्य शैव सिद्धांत का प्रचार करना भी बताया गया है, जो शैव धर्म के संस्थागत प्रचार–प्रसार को दर्शाता है। चूंकि छत्तीसगढ़ के ये आरंभिक शैव मठ और मठ परम्परा के आचार्य आमर्दक शाखा से जुड़े थे अतः सातवीं–आठवीं शती ईस्वी में इनका छत्तीसगढ़ में प्रभाव मठों के इतिहास की दृष्टि से भी प्राचीनतम ही हैं। क्योंकि आमर्दक शाखा की भौगोलिक पहचान अब तक हो नहीं पायी है और इनके जो प्राचीनतम आभिलेखिक प्रमाण प्राप्त होते भी हैं उनमें छत्तीसगढ़ उदाहरण प्रमुख हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. तिवारी, सुजीत कुमार, छत्तीसगढ़ का शैव पुरातत्त्व (चौथी से तेरहवीं शती ईस्वी तक), 2023 (अप्रकाशित शोध प्रबंध), पृष्ठ 83–84
2. शास्त्री, अजय मित्र, इन्स्क्रिप्शन ऑफ शरभपुरीय,पांडुवंशीन्स एंड सोमवंशीन्स, वॉल्यूम 2,1995, पृष्ठ 376–379
3. वही, पृष्ठ 376–379
4. वही, पृष्ठ 376–379
5. वही, पृष्ठ 376–379
6. वही, पृष्ठ 376–379
7. वही, पृष्ठ 376–379
8. वही, पृष्ठ 376–379
9. वही, पृष्ठ 378 (सेट 7)
10. वही, पृष्ठ 376 (सेट 1)
11. तिवारी, सुजीत कुमार, उपरोक्त, पृष्ठ 80
12. शास्त्री, अजय मित्र, पूर्वोक्त , पृष्ठ 378–79
13. वही, पृष्ठ 376
14. वही, पृष्ठ 378–79
15. बोसमा, नतासा, दक्षिण कोसल रू ए रीच सेंटर ऑफ अर्ली शैविज्म, 2018, पृष्ठ 255
16. जैन, बालचंद्र, उत्कीर्ण लेख, 1961, पृष्ठ 213–14
17. तिवारी, सुजीत कुमार, उपरोक्त, पृष्ठ 81
18. शास्त्री, अजय मित्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ 378–79
19. तिवारी, सुजीत कुमार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 82
20. शास्त्री, अजय मित्र, पूर्वोक्त , पृष्ठ 154–155यएपिग्राफिया इंडिका, भाग 31, पृष्ठ 31–36
21. वही, पृष्ठ 154–155 : एपिग्राफिया इंडिका, भाग 31, पृष्ठ 31–36
22. तिवारी, सुजीत कुमार, उपरोक्त, पृष्ठ 82

योग का सांस्कृतिक अनुकूलन और सांस्कृतिक विनियोग : एक डीकॉलोनियल अध्ययन

डॉ. अनूप पति तिवारी
सहायक प्राध्यापक (दर्शनशास्त्र)
गया कॉलेज, गया जी
मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार
ई–मेल : anooppatitiwari@gmail.com

योग का सांस्कृतिक अनुकूलन

सारांश

योग भारतीय सभ्यता की एक प्राचीन, सुदृढ़ और निरन्तर विकसित होती हुई ज्ञान–परम्परा है। समकालीन वैश्विक सन्दर्भ में योग के तीव्र प्रसार ने दो समानान्तर प्रक्रियाओं को जन्म दिया है सांस्कृतिक अनुकूलन और सांस्कृतिक विनियोग जहाँ सांस्कृतिक अनुकूलन योग को विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भों में प्रासंगिक बनाए रखता है, वहीं सांस्कृतिक विनियोग योग को उसके दार्शनिक, ऐतिहासिक और नैतिक आधारों से पृथक कर एक उपभोग्य उत्पाद में परिवर्तित कर देता है। यह शोध–पत्र डीकॉलोनियल दृष्टिकोण के माध्यम से यह तर्क प्रस्तुत करता है कि आधुनिक योग–विमर्श औपनिवेशिक ज्ञान–संरचनाओं और नव–उदारवादी बाजार तर्कों से गहराई से प्रभावित है। अध्ययन का उद्देश्य योग को केवल शारीरिक अभ्यास नहीं, बल्कि एक समग्र भारतीय ज्ञान–प्रणाली के रूप में पुनर्स्थापित करना है।

मुख्य शब्दः योग, सांस्कृतिक अनुकूलन, सांस्कृतिक विनियोग, डीकॉलोनियल अध्ययन, भारतीय ज्ञान–परम्परा।

भूमिका

योग दक्षिण एशियाई सभ्यता के बौद्धिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक केन्द्रीय स्थान रखता है। वैदिक तप, उपनिषदिक आत्मान्वेषण, श्रमण ध्यान–परम्पराएँ तथा पतंजलि द्वारा सूत्रबद्ध योग–दर्शन– इन सभी के माध्यम से योग ने विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में स्वयं को विकसित किया है। इक्कीसवीं शताब्दी में योग ने अभूतपूर्व वैश्विक स्वीकृति प्राप्त की है और आज वह स्वास्थ्य, जीवन–शैली, मनोचिकित्सा, खेल–विज्ञान तथा वैकल्पिक चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण घटक बन चुका है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषित अन्तरराष्ट्रीय योग दिवस इस वैश्विक मान्यता का प्रतीक है।

किन्तु योग के इस वैश्वीकरण ने कुछ गम्भीर बौद्धिक और वैचारिक प्रश्न भी उत्पन्न किए हैं। समकालीन वैश्विक योग प्रायः अपने दार्शनिक आधार, नैतिक अनुशासन और सांस्कृतिक स्मृति से कटा हुआ प्रतीत होता है। योगासन को यम, नियम, ध्यान और मोक्ष–साधना से अलग कर एक तकनीकी व्यायाम के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्या योग का यह वैश्विक रूपान्तरण सांस्कृतिक अनुकूलन का उदाहरण है या फिर सांस्कृतिक विनियोग का।

यह शोध–पत्र इसी प्रश्न का समालोचनात्मक विश्लेषण करता है और डीकॉलोनियल अध्ययन के माध्यम से योग के समकालीन स्वरूप को समझने का प्रयास करता है।इस अध्ययन की केन्द्रीय समस्या योग की दो अतिवादी व्याख्याओं में निहित है। एक ओर औपनिवेशिक और आधुनिकतावादी दृष्टिकोण योग को अवैज्ञानिक, रहस्यमय और आधुनिक समाज के लिए अनुपयुक्त मानते हैं; दूसरी ओर नव–उदारवादी विमर्श योग को केवल शारीरिक स्वास्थ्य और उपभोग संस्कृति तक सीमित कर देता है। दोनों ही दृष्टियाँ योग की समग्र सभ्यतागत प्रकृति को नकारती हैं। इस शोध के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है :

(क) योग के ऐतिहासिक और सभ्यतागत विकास को स्पष्ट करना,
(ख) सांस्कृतिक अनुकूलन और सांस्कृतिक विनियोग की अवधारणाओं का सैद्धान्तिक विवेचन करना,
(ग) योग की औपनिवेशिक व्याख्याओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करना
(घ) डीकॉलोनियल दृष्टि से योग को एक समग्र ज्ञान–प्रणाली के रूप में पुनर्परिभाषित करना

यह अध्ययन गुणात्मक, व्याख्यात्मक तथा अन्तर्विषयी शोध–पद्धति पर आधारित है। इसमें उपनिषद, पतंजलि योगसूत्र, हठयोग एवं तान्त्रिक ग्रंथों जैसे प्राथमिक स्रोतों का विश्लेषण किया गया है। द्वितीयक सोतों में आधुनिक योग–अध्ययन, औपनिवेशिक इतिहास, सांस्कृतिक अध्ययन तथा डीकॉलोनियल सिद्धान्तों से सम्बन्धित साहित्य सम्मिलित है। शोध में पाठ–विश्लेषण, ऐतिहासिक व्याख्या और

विमर्श–विश्लेषण (Discourse Analysis) का प्रयोग किया गया है। डीकोलोनियल दृष्टिकोण इस शोध का सैद्धान्तिक आधार है, जो पश्चिमी आधुनिकता को सार्वभौमिक मानने की प्रवृत्ति को चुनौती देता है और भारतीय ज्ञान–परम्परा की बौद्धिक स्वायत्तता को रेखांकित करता है।

योग : एक सभ्यतागत ज्ञान–प्रणाली

योग को केवल आध्यात्मिक या धार्मिक साधना के रूप में समझना उसके ऐतिहासिक स्वरूप को सीमित करना है। वास्तव में योग एक समग्र सभ्यतागत ज्ञान–प्रणाली है, जो शरीर, मन, नैतिकता और चेतना के बीच सन्तुलन स्थापित करती है। ऋग्वेद में तप और ध्यान, उपनिषदों में आत्मविद्या तथा श्रमण परम्पराओं में ध्यान साधना योग की प्रारम्भिक अभिव्यक्तियाँ है।

पतंजलि द्वारा योग की परिभाषा : चित्तवृत्ति निरोध

योग को मानसिक अनुशासन और बौद्धिक साधना का मार्ग बनाती है। मध्यकालीन हठयोग और तन्त्र परम्पराओं ने शरीर को साधना का केन्द्र बनाया, जो उस युग के सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भ में योग का एक महत्त्वपूर्ण अनुकूलन था। यह ऐतिहासिक विकास दर्शाता है कि योग कभी स्थिर नहीं रहा, बल्कि प्रत्येक युग में उसने नए अर्थ ओर रूप ग्रहण किए।

योग की आन्तरिक अनुकूलन

योग परम्परा की एक प्रमुख विशेषता उसकी आन्तरिक लचीलापन और संवादशीलता है। योग ने वैदिक–ब्राह्मण परम्परा, बौद्ध और जैन चिन्तन, तान्त्रिक साधनाओं तथा भक्ति आन्दोलनों के साथ निरन्तर संवाद किया। आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द ने योग को सार्वभौमिक मानवता और तर्कबुद्धि से जोड़ा, महात्मा गांधी ने उसे नैतिक आत्मसंयम का मार्ग माना, और श्री अरविन्द ने योग को चेतना के उत्क्रांति–मार्ग के रूप में व्याख्यायित किया।

आज योग अपने इन अभिनव प्रयोग के रास्ते विश्वव्यापी हो गया है यूरोप, अमेरिका, अरब देश चीन, जापान हर जगह योग– हठयोग, कुण्डलिनी योग, विन्यासयोग, अयंगकर योग, विपस्सना, प्रेक्षा–ध्यान पतंजलि योग के माध्यम से प्रसारित हो रहा है।.

यूरोप में योग 1960–70 के बीच हिप्पी आन्दोलन, इस्टर्न सपीरिचुअल और भारत यात्रा के रुझान से प्रसारित हुआ है. लगभग 5 करोड़ से अधिक लोग किसी न किसी रूप में में. योग से जुड़े हुए है। योग स्कूलो, अस्पतालो जेलों, सेना, कारपोरेट सेक्टर और खेल प्रशिक्षण में शामिल की जा रही हैं।

वेदान्त और योग दर्शन का प्रभाव

लावत्स्की, जीन हर्बर्ट जैसे विद्वानों पर भगवद्गीता तथा उपनिषदों के अनुवाद ने योग दर्शन की वैचारिक पृष्टभूमि तैयार किया आज फ्रांस के युवा में भारतीय ध्याम, प्राणायाम और साहाना के प्रति सगन बढ़ा है। पेरिस में हजारो योग स्टूडियों है। ल्योन शहर ध्यान और रिट्रीट्स के लिए प्रसिद्ध है। मासैय समुद्री योग और वेलनेस हब के लिए प्रसिद्ध है। फ्रांसिसी चिकित्सा प्रणाली में योग थेरेपी का समावेश हो रहा है। मानसिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ तनाव, चिंता, अनिद्रा आदि के उपचार ब्द योग की अनुशंसा करते हैं।योगदिवस पर भारतीय दुतावास पेरिस द्वारा एफिल टावर लघु संग्रहालय, और रोन नदी के किनारे आयोजित योग सत्र में हजारो प्रतिभागी शामिल होते हैं।

फ्रांस में इंस्टिट्यूट फ्रांसिस द योग राष्ट्रीय स्तर पर योग प्रशिक्षण प्रदान करता है। इसके साथ सम्बद्ध 'फेडरेशन नेशनल देस इन्हेलेटस द योगा' योग शिक्षकों का राष्ट्रीय संघ है।

सोवियत संघ में धर्म और अध्यात्म के प्रति शंका का वातावरण थी 1980 कुछ खेल और विशेषयों ने योग को एक शारिरीक और मानसिक अनुशासन के रूप में स्वीकार किया। भारत से आये साहित्य– गीता, योगसूत्र, हठ योग प्रक्षिपिक के एसी भाषा में अनुवाद हुआ फलत : 1931 से परिवर्तन का दौर आया भारतीय योग गुरुओ। अयंगर शिवानन्द, महेशयोगी) की शिक्षाको के प्रभात से रूस में भारतीय दूतवास और संस्कृति केन्द्रों के माध्यम से योग कार्यशालाएँ प्रारम्भ हुई। भारको और सेन्टपीटर्स नवर्ग में लगभग 1000 से अधिक स्टूडियोज है रूस में लगभग 20–25 लाख लोग योग का नियमित अभ्यास करते हैं। रुसी योगगुरू आन्द्रेई सिडएिको द्वारा योग प्रणाली विकसित की गई है।

ये सभी उदाहरण सांस्कृतिक अनुकूलन के हैं, जहाँ योग ने अपने मूल को छोड़े बिना नए सामाजिक सन्दर्भों में स्वयं को स्थापित किया गया है कि योग एक जीवंत, ऐतिहासिक और सभ्यतागत ज्ञान–प्रणाली है, जिसकी अनुकूलनशीलता उसकी शक्ति रही है। किन्तु आधुनिक वैश्विक सन्दर्भ में जब यह अनुकूलन सन्दर्भ–विच्छेदन में बदल जाता है, तब सांस्कृतिक विनियोग की समस्या उत्पन्न होती है। अगले भाग में सांस्कृतिक अनुकूलन और विनियोग की सैद्धान्तिक विवेचना आधुनिक और वैश्विक सन्दर्भों में की जाएगी

सांस्कृतिक अनुकूलन (Cultural Adaptation) वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से कोई ज्ञान–परम्परा नए भौगोलिक, सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भों में प्रवेश करते हुए स्वयं को पुनर्संरचित करती है, किन्तु अपने मूल तात्त्विक आधार को पूर्णतः त्यागती नहीं है। मानव–विज्ञान और सांस्कृतिक अध्ययन में इसे जीवंत परम्पराओं की स्वाभाविक विशेषता माना गया है। अनुकूलन का अर्थ न तो शुद्ध संरक्षण है और न ही पूर्ण परिवर्तन, बल्कि निरन्तर संवाद और पुन्वर्याख्या है।

योग के सन्दर्भ में सांस्कृतिक अनुकूलन का अर्थ यह है कि योग विभिन्न युगों और समाजों में अलग–अलग रूप ग्रहण करता रहा है, किन्तु उसके केन्द्रीय लक्ष्य– आत्मानुशासन, चित्तशुद्धि और समग्र कल्याण अखण्डित बने रहे हैं। यह समझना आवश्यक है कि किसी भी सभ्यतागत ज्ञान–प्रणाली की प्रासंगिकता उसकी अनुकूलनशीलता पर निर्भर करती है, न कि उसके स्थिरीकरण के।

योग का इतिहास स्वयं सांस्कृतिक अनुकूलन का इतिहास है। वैदिक काल में तप और ध्यान मुख्यतः यज्ञ और ऋत की अवधारणा से जुड़े थे। उपनिषदिक युग में वही ध्यान आत्मा–ब्रह्म की पहचान का साधन बना। श्रमण परम्पराओं में योग ने सन्यास, ध्यान और अहिंसा के रूप ग्रहण किए। पतंजलि के योगसूत्रों में योग को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अनुशासन के रूप में सूत्रबद्ध किया गया।

मध्यकालीन भारत में हठयोग और तान्त्रिक परम्पराओं ने शरीर को साधना का केन्द्र बनाया। यह परिवर्तन तत्कालीन सामाजिक–धार्मिक स्थितियों के अनुरूप था, जहाँ देह को त्याज्य नहीं, बल्कि साधन माना गया। यह अनुकूलन योग को अधिक व्यापक समाज से जोड़ने का माध्यम बना। अतः यह स्पष्ट है कि योग कभी एकरूप नहीं रहा, बल्कि उसने हर युग में नई सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार स्वयं को ढाला।

औपनिवेशिक काल में योग को एक ओर तो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रहस्यमय और अवैज्ञानिक बताकर हाशिए पर रखा गया, वहीं दूसरी ओर भारतीय चिन्तकों ने योग को आधुनिक सन्दर्भों में पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया। स्वामी विवेकानन्द ने योग को सार्वभौमिक मानव–चेतना और तर्कशीलता से जोड़ते हुए पश्चिम में प्रस्तुत किया। उन्होंने राजयोग को वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में व्याख्यायित किया, जिससे योग आधुनिक बौद्धिक विमर्श में प्रवेश कर सका।

महात्मा गांधी ने योग को नैतिक आत्मसंयम, सत्य और अहिंसा के साथ जोड़ा। उनके लिए योग केवल व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक नैतिकता का आधार था। श्री अरविन्द ने योग को चेतना की उत्क्रांति की प्रक्रिया के रूप में देखा, जो व्यक्तिगत साधना से आगे बढ़कर सामूहिक मानव–विकास का साधन बन सकता है।

स्वतन्त्र भारत में योग का अनुकूलन शिक्षा, स्वास्थ्य और राष्ट्रीय पहचान से जुड़ा। विद्यालयों में योग–शिक्षा, आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा के साथ योग का समन्वय, तथा राज्य स्तरीय संस्थानों की स्थापना सभी योग के आधुनिक भारतीय अनुकूलन के उदाहरण हैं।

भारतीय ध्यान और चेतना–परम्परा किसी एक दर्शन या संप्रदाय की बौद्धिक संपत्ति नहीं रही है। यह एक दीर्घकालीन, बहुस्तरीय और संवादात्मक परम्परा है, जिसमें शैव, बौद्ध, योग, जैन और सिख चिन्तन परस्पर भिन्न होते हुए भी एक साझा अनुभवात्मक आधार पर स्थित दिखाई देते हैं। इन परम्पराओं का केन्द्रीय प्रश्न मन, चेतना, आचरण और मुक्ति है और इनका समाधान केवल दार्शनिक तर्क से नहीं, बल्कि साधना, अनुशासन और जीवन–परिवर्तन से जुड़ा हुआ है।

बौद्ध दर्शन में माइंडफुल्लनेस (सति)

भगवान बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग में सम्मा–सति (सम्यक स्मृति / माइंडफुलनेस) को केन्द्रीय स्थान दिया। बौद्ध साधना में ध्यान (झान) और विपश्यना (विपस्सना) का उद्देश्य मन को किसी ईश्वर में विलीन करना नहीं, बल्कि यथार्थ को यथावत् देखना है।

पाली साहित्य दीघ निकाय, मज्जिम निकाय और विशेष रूप से सतिपट्ठान सुत्त में माइंडफुलनेस को चार क्षेत्रों में अभ्यास करने की विधि दी गई है : काय, वेदना, चित्त और धम्म यहाँ माइंडफुलनेस केवल मानसिक सतर्कता नहीं, बल्कि नैतिक सजगता है, जो लोभ, द्वेष और मोह के क्षय की ओर ले जाती है। बौद्ध परम्परा में इसे सति कहा गया है अर्थात् वर्तमान क्षण में पूर्ण जागरूकता के साथ स्वयं और संसार का अवलोकन।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में बर्मा, थाईलैंड और श्रीलंका में विपश्यना केंद्रों के माध्यम से यह परम्परा वैश्विक बनी। आगे चलकर जॉन काबट जिन द्वारा विकसित Mindfulness-Based Stress Reduction (MBSR) ने माइंडफुलनेस को चिकित्सा, मानसिक स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में स्थापित किया, यद्यपि इस प्रक्रिया में इसके नैतिक और दार्शनिक आयाम आंशिक रूप से सीमित भी हो गए। पतंजलि योगसूत्र भारतीय ध्यान परम्परा को एक सुव्यवस्थित दार्शनिक ढाँचा प्रदान करता है। योग का उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। पतंजलि के अनुसार यह निरोध अभ्यास (निरन्तर सजग प्रयास) और वैराग्य (आसक्ति–क्षय) के द्वारा संभव है। चित्त की पाँच भूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध–बताई गई हैं, जिनमें केवल एकाग्र अवस्था में स्थायी समाधि संभव है।

योगसूत्र में समाधि केवल ध्यान की अवस्था नहीं, बल्कि सत्य–बोध, क्लेश–क्षय, कर्मबन्धन–शैथिल्य और मुक्ति की प्रक्रिया है। यहाँ ध्यान का उद्देश्य आत्म–नियन्त्रण के साथ नैतिक अनुशासन भी है, जो योग को केवल तकनीक नहीं, बल्कि जीवन–पद्धति बनाता है।

जैन परम्परा में विकसित प्रेक्षा–ध्यान का मूल सिद्धान्त है– गहराई से देखना, बिना आग्रह और बिना विरोध के। आधुनिक काल में आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ ने इसे वैज्ञानिक और व्यवहारिक रूप दिया।

प्रेक्षा–ध्यान शरीर, खास, भाव और विचारों के प्रति साक्षी–भाव को विकसित करता है। इसका दार्शनिक आधार यह बोध है कि व्यक्ति अपने विचार और भाव नहीं है, बल्कि उनका द्रष्टा है। यही द्रष्टा भाव अहिंसा, संयम और आत्मानुशासन की ओर ले जाता है। व्यवहारिक स्तर पर यह ध्यान क्रोध, भय, तनाव और असन्तुलन को घटाकर सामाजिक नैतिकता को सुदृढ़ करता है।

भारतीय ध्यान परम्परा का एक महत्वपूर्ण, किन्तु अकसर उपेक्षित

पक्ष सिख चिन्तन है। सिख परम्परा ध्यान को संन्यास या संसार–त्याग से नहीं जोड़ती, बल्कि गृहस्थ जीवन में सजगता के साथ स्थापित करती है। गुरु नानक देव जी ने स्पष्ट किया कि मुक्ति जंगलों में नहीं, बल्कि समाज के भीतर नैतिक और सजग जीवन जीने में है।

सिख साधना का केन्द्र है।

- नाम–सिमरन ईश्वर के नाम का सतत स्मरण।
- सहज अवस्था स्वाभाविक, अहंकार–रहित चेतना।
- हुक्म की स्वीकृति जीवन की यथार्थ स्थितियों को समझकर कर्म
- करना।

गुरु ग्रंथ साहिब में बार–बार मन की चंचलता, अहंकार (हौमै) और विक्षेप को बन्धन का कारण बताया गया है। नाम–सिमरन का उद्देश्य मन को स्थिर करना नहीं, बल्कि उसे अहंकार से मुक्त कर नैतिक और करुणामय कर्म की ओर प्रवृत्त करना है। इस अर्थ में सिख परम्परा की सजगता बौद्ध सति और योग के चित्त–निरोध से भिन्न होते हुए भी उनसे गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है।

सिख ध्यान व्यक्तिगत मुक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सेवा, समानता और सामाजिक न्याय से अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। यही इसे विशुद्ध 'आध्यात्मिक तकनीक' से आगे बढ़ाकर सामाजिक चेतना की साधना बनाता है।

बौद्ध सति, पतंजलि योग, जैन प्रेक्षा–ध्यान और सिख नाम सिमरन सभी के मूल में एक साझा तत्त्व है : साक्षी–भाव और सजग चेतना। अन्तर केवल अभिव्यक्ति और उद्देश्य–प्राथमिकता का है। आधुनिक वैश्विक माइंडफुलनेस आन्दोलन जहाँ मुख्यतः मानसिक स्वास्थ्य और तनाव प्रबन्धन पर केंद्रित है, वहीं भारतीय परम्पराएँ चेतना के साथ नैतिकता, आत्मानुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी जोड़ती हैं।

इस दृष्टि से भारतीय ध्यान परम्परा केवल मनोवैज्ञानिक अभ्यास नहीं, बल्कि समग्र मानव–परिवर्तन की सभ्यतागत परियोजना है जिसमें आत्म, समाज और धर्म (नैतिक नियम) एक–दूसरे से पृथक नहीं हैं।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में योग का वैश्विक प्रसार तेज हुआ। पश्चिमी समाजों में योग को तनाव–निवारण, मानसिक स्वास्थ्य, जीवन–शैली सुधार और वैकल्पिक चिकित्सा के रूप में अपनाया गया। मनोविज्ञान, न्यूरोसाइंस और चिकित्सा विज्ञान के साथ योग का संवाद इस वैश्विक अनुकूलन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

यहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक है कि वैश्विक सन्दर्भ में योग का यह प्रयोग पूरी तरह नकारात्मक नहीं है। मानसिक तनाव, अवसाद और उपभोक्तावादी जीवन–शैली से उत्पन्न संकटों के बीच योग ने सन्तुलन और आत्म–नियन्त्रण का मार्ग प्रस्तुत किया। यह योग की सार्वभौमिक मानवीय अपील को दर्शाता है।

किन्तु यह अनुकूलन तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब योग को केवल तकनीक या व्यायाम तक सीमित न किया जाए, बल्कि उसके नैतिक और दार्शनिक आयामों को भी मान्यता दी जाए। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहीं अनुकूलन धीरे–धीरे विनियोग में परिवर्तित होने लगता है।

सांस्कृतिक अनुकूलन और सांस्कृतिक विनियोग के बीच मूल अन्तर सन्दर्भ, सम्मान और अधिकार का है। अनुकूलन में संवाद, पारस्परिक सीख और स्रोत–संस्कृति की मान्यता निहित होती है, जबकि विनियोग में चयनात्मक उपयोग, सरलीकरण और ऐतिहासिक निस्मरण प्रमुख होते हैं।

योग का अनुकूलन तब विनियोग बन जाता है. जब उसे उसकी दार्शनिक परम्परा से अलग कर केवल शारीरिक फिटनेस या बाजार उत्पाद में बदल दिया जाता है। यह प्रक्रिया योग को एक जीवंत ज्ञान–प्रणाली से घटाकर एक सांस्कृतिक वस्तु बना देती है। यह स्पष्ट किया गया है कि योग की सांस्कृतिक अनुकूलनशीलता उसकी ऐतिहासिक शक्ति रही है। आधुनिक भारत और वैधिक समाज में योग का प्रसार आंशिक रूप से इसी अनुकूलन का परिणाम है। किन्तु जब यह प्रक्रिया सन्दर्भ–विच्छेदन, बाजारीकरण और औपनिवेशिक ज्ञान–संरचनाओं से जुड़ जाती है. तब सांस्कृतिक विनियोग की समस्या उत्पन्न होती है। अगले भाग में इसी विनियोग की अवधारणा, उसके औपनिवेशिक और पूँजीवादी आयामों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

संदर्भ सूची

1. Eliade,M-(2009), Yoga: Immortality & Freedom) W.R. Trask, Trans. Princeton (University Press) Original work published 1958)
2. Feuerstein, G- (2008), The Yoga Tradition: Its History, Literature, Philosophy & Practice.
3. Flood, G. (1996), An Introduction To Hinduism, Cambridge University Press.
4. Goldberg, E. (2016), The Path of Modern Yoga: The History Of An Embodied Spiritual Practice, Inner Traditions.
5. Mallinson, J., & Singleton, M. (2017)- Roots of Yoga. Penguin Classics.
6. Patel, K. (2010). Cultural appropriation and the arts, Wiley-Blackwell.
7. Patanjali. (2002). The Yoga Sutras of Patanjali (E. F. Bryant, Trans.), North Point Press.
8. Sharma, R.N.(2004), Indian Philosophy, Motilal Banarsidass.
9. Singleton, M. (2010), Yoga Body: The Origins of Modern Posture Practice. Oxford University Press.
10. Vivekananda, S. (2013), Raja Yoga, Advaita Ashrama. (Original work published 1896)
11. White, D. G. (2012). The Yoga Sutra of Patanjali : A Biography, Princeton University.
12. पतंजलि, (2016), योगसूत्र (स्वामी हरिहरानन्द आरण्यकृत भाष्य), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
13. विवेकानन्द, स्वामी, (2018), राजयोग, अद्वैत आश्रम ।

भारतीय ज्ञान परंपरा में वैज्ञानिक दृष्टि : तर्क, अनुभव और प्रयोग की अनवरत परंपरा

प्रो. शरद कुमार मिश्र
जैव प्रौद्योगिकी विभाग
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
ईमेल: saradmishra5@gmail.com । मोबाइल: 9569584229

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा को प्रायः आध्यात्मिकता, धर्म और दर्शन की दृष्टि से देखा जाता रहा है, किंतु यदि इसके मूल स्रोतों, विचार पद्धतियों और ज्ञान संरचनाओं का गंभीर अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि यह परंपरा केवल आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित नहीं थी, बल्कि जिज्ञासा, तर्कबुद्धि, अनुभवजन्य ज्ञान और प्रयोगशीलता की एक समृद्ध एवं सुसंगठित धारा थी। भारतीय चिंतन ने ज्ञान को कभी स्थिर अथवा अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसे निरंतर विकसित होने वाली बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में देखा, जिसमें प्रश्न करना, परीक्षण करना और पुनर्विचार करना अनिवार्य तत्व माने गए। यही कारण है कि वेदों से लेकर उपनिषदों, न्याय और वैशेषिक दर्शन, आयुर्वेद, गणित, खगोल विज्ञान तथा धातु विज्ञान तक हर क्षेत्र में ज्ञान को प्रमाण और अनुभव की कसौटी पर कसने की परंपरा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारतीय मनीषा का मूल उद्देश्य केवल विश्वास का निर्माण नहीं, बल्कि सत्य की खोज था। इस खोज में तर्क मार्गदर्शक था, अनुभव प्रमाण था और प्रयोग सत्यापन का माध्यम। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति जिस आलोचनात्मक दृष्टि, संशय और निरंतर परीक्षण की बात करती है, उसके अनेक तत्व भारतीय ज्ञान परंपरा के मूल ढाँचे में पहले से उपस्थित दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान परंपरा को केवल सांस्कृतिक विरासत के रूप में नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक चेतना के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है, जिसने ज्ञान को जीवंत रखा और निरंतर प्रश्नों के माध्यम से उसे विकसित किया।

1. जिज्ञासा और प्रश्न की संस्कृति : वैज्ञानिक चेतना की आधारशिला

भारतीय ज्ञान परंपरा की शुरुआत ही जिज्ञासा से होती है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति को लेकर जिस प्रकार के प्रश्न उठाए गए हैं, वे इस बात का संकेत देते हैं कि भारतीय चिंतन की प्रकृति मूलतः प्रश्नपरक रही है। यहाँ सृष्टि के विषय में अंतिम और निर्विवाद उत्तर देने का प्रयास नहीं किया गया, बल्कि संशय, जिज्ञासा और अनिश्चितता को स्वीकार किया गया है। यह बौद्धिक विनम्रता दर्शाती है कि ज्ञान को पूर्ण और अंतिम मानने के बजाय खोज की निरंतर प्रक्रिया के रूप में देखा गया। उपनिषदों की संवाद परंपरा इस वैज्ञानिक चेतना का जीवंत उदाहरण है। गुरु और शिष्य के मध्य होने वाले संवाद में शिष्य प्रश्न करता है, तर्क प्रस्तुत करता है और संशय व्यक्त करता है। ज्ञान किसी आदेश या अंधस्वीकृति के माध्यम से नहीं, बल्कि विचार–विमर्श के माध्यम से निर्मित होता है। यह शैली आधुनिक वैज्ञानिक विमर्श से गहरा साम्य रखती है, जहाँ प्रश्न उठाना और स्थापित विचारों की समीक्षा करना ज्ञान की प्रगति के लिए आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान परंपरा ने विचार स्वतंत्रता और बौद्धिक आलोचनात्मकता को अत्यंत महत्व दिया।

2. तर्क और प्रमाण : न्याय दर्शन की वैज्ञानिक पद्धति

भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन ने ज्ञानमीमांसा की जिस सुव्यवस्थित पद्धति का विकास किया, वह किसी भी दृष्टि से वैज्ञानिक सोच से कम नहीं कही जा सकती। न्याय दर्शन में ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द जैसे प्रमाणों की व्यवस्था की गई। प्रत्यक्ष इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान पर आधारित है, अनुमान तर्क और कारण–कार्य संबंध पर, उपमान तुलना की प्रक्रिया पर और शब्द विश्वसनीय स्रोत की प्रामाणिकता पर आधारित है। यह वर्गीकरण ज्ञान को व्यवस्थित रूप से परखने की पद्धति प्रदान करता है, जो आधुनिक विज्ञान के अवलोकन, विश्लेषण और साक्ष्य आधारित निष्कर्षों से अत्यंत मेल खाता है।

3. वैशेषिक दर्शन : पदार्थ की संरचना और वैज्ञानिक जिज्ञासा

वैशेषिक दर्शन ने भौतिक संसार को समझने के लिए पदार्थ की सूक्ष्म संरचना पर विचार किया और अणु की अवधारणा प्रस्तुत की। इसके अनुसार संसार अनेक सूक्ष्म और अविभाज्य इकाइयों से मिलकर बना है, जिनके गुण और कार्य के आधार पर जगत की विविधता उत्पन्न होती

है। यद्यपि यह आधुनिक परमाणु सिद्धांत से भिन्न है, फिर भी यह प्रयास इस बात का प्रमाण है कि भारतीय चिंतक भौतिक जगत को समझने के लिए विश्लेषणात्मक दृष्टि का उपयोग कर रहे थे। यह चिंतन दर्शाता है कि भारतीय ज्ञान केवल आध्यात्मिक अनुभूति तक सीमित नहीं था, बल्कि प्रकृति और पदार्थ की संरचना को समझने का गंभीर बौद्धिक प्रयास भी था। इस प्रकार दर्शन और विज्ञान के बीच कोई विभाजन नहीं था, बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक थे।

4. अनुभव का महत्व : योग और चेतना का वैज्ञानिक आयाम

भारतीय ज्ञान परंपरा में अनुभव को ज्ञान का सर्वोच्च आधार माना गया। योग दर्शन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ ज्ञान केवल सैद्धांतिक अध्ययन से नहीं, बल्कि अभ्यास और प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होता है। पतंजलि योगसूत्रों में साधना को आत्म–अवलोकन और चेतना की गहन समझ का माध्यम बताया गया है। योग की प्रक्रिया मन और शरीर दोनों के व्यवस्थित अध्ययन पर आधारित है, जिसमें निरीक्षण, अभ्यास और आत्म–परीक्षण सम्मिलित हैं।आज आधुनिक वैज्ञानिक शोध ध्यान और योग के प्रभावों को मानसिक स्वास्थ्य, तनाव नियंत्रण और मस्तिष्कीय संरचना से जोड़कर देख रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग केवल आध्यात्मिक परंपरा नहीं, बल्कि मानव चेतना के अनुभवजन्य अध्ययन की एक वैज्ञानिक प्रणाली भी है।

5. आयुर्वेद : अवलोकन आधारित चिकित्सा विज्ञान

आयुर्वेद भारतीय वैज्ञानिक परंपरा की सबसे व्यावहारिक अभिव्यक्तियों में से एक है। चरक संहिता में रोगों के कारणों, लक्षणों और उपचारों का व्यवस्थित वर्गीकरण मिलता है। रोग–निदान में निरीक्षण, स्पर्श और प्रश्न की पद्धति अपनाई गई, जो आधुनिक चिकित्सा पद्धति से अत्यंत साम्य रखती है। यह स्पष्ट करता है कि चिकित्सा ज्ञान केवल धार्मिक विश्वासों पर आधारित नहीं था, बल्कि व्यवस्थित अवलोकन और अनुभव का परिणाम था।सुश्रुत संहिता में शल्य चिकित्सा का विस्तार से वर्णन मिलता है। शल्य उपकरणों का वर्गीकरण, प्रक्रियाओं का वर्णन और उपचार के पश्चात देखभाल के निर्देश यह दर्शाते हैं कि चिकित्सा विज्ञान प्रयोग और व्यावहारिक दक्षता पर आधारित था। नाक पुनर्निर्माण जैसी शल्य प्रक्रियाएँ इस प्रयोगधर्मिता का प्रमाण हैं।

6. प्रयोग की परंपरा : तकनीकी और शल्य दक्षता

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रयोग का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण था। आयुर्वेद और शल्य चिकित्सा में विकसित तकनीकें यह सिद्ध करती हैं कि ज्ञान केवल सैद्धांतिक नहीं था, बल्कि व्यावहारिक परीक्षणों पर आधारित था। सुश्रुत द्वारा वर्णित शल्य प्रक्रियाएँ और उपकरण यह संकेत देते हैं कि प्राचीन भारत में व्यवस्थित प्रयोग और तकनीकी कुशलता विद्यमान थी। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि भारतीय शल्य तकनीकों का प्रभाव बाद में अरब और यूरोपीय चिकित्सा पर पड़ा। इससे स्पष्ट होता है कि यह ज्ञान परंपरा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी प्रभावशाली थी।

7. गणित और खगोल विज्ञान : गणना और अवलोकन की वैज्ञानिकता

भारतीय विज्ञान की सबसे सशक्त और विश्व–मान्य उपलब्धियाँ गणित और खगोल विज्ञान के क्षेत्र में दिखाई देती हैं, जहाँ ज्ञान का विकास केवल दार्शनिक कल्पना के आधार पर नहीं, बल्कि सटीक गणना, व्यवस्थित अवलोकन और तार्किक विश्लेषण के माध्यम से हुआ। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने आकाशीय घटनाओं को समझने के लिए गणितीय पद्धतियों का उपयोग किया और समय, ग्रहों की गति तथा खगोलीय चक्रों के अध्ययन को वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित किया। आर्यभट्ट ने पृथ्वी के घूर्णन की अवधारणा प्रस्तुत कर यह स्पष्ट किया कि दिन–रात का कारण सूर्य की गति नहीं, बल्कि पृथ्वी की स्वयं की गति है। उन्होंने ग्रहणों की व्याख्या भी दैवी कारणों से अलग हटकर वैज्ञानिक ढंग से की, जो अवलोकन और गणना पर आधारित थी। इसी प्रकार भास्कराचार्य ने गणित के क्षेत्र में बीजगणित, कलन–सदृश अवधारणाओं और जटिल समीकरणों के समाधान प्रस्तुत किए, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय गणित केवल व्यावहारिक गणना तक सीमित नहीं था, बल्कि उच्च स्तर की वैचारिक और विश्लेषणात्मक क्षमता से संपन्न था। दशमलव प्रणाली और शून्य की अवधारणा भारतीय गणित की ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिन्होंने विश्व गणित की दिशा ही बदल दी। शून्य केवल संख्या नहीं था, बल्कि गणना की एक नई पद्धति का आधार बना, जिसने जटिल गणनाओं को सरल और व्यवस्थित बना दिया। खगोल विज्ञान में ग्रहों की स्थितियों की भविष्यवाणी, पंचांग निर्माण और समय की गणना जैसी प्रक्रियाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि भारतीय वैज्ञानिकों ने दीर्घकालीन अवलोकन और गणितीय सटीकता के माध्यम से ज्ञान का निर्माण किया। यह परंपरा दर्शाती है कि भारतीय विज्ञान में तर्क, अनुभव और गणना का गहरा समन्वय था, जिसने ज्ञान को अनुभवजन्य और प्रमाण–आधारित स्वरूप प्रदान किया।

8. धातु विज्ञान और तकनीकी कौशल

दिल्ली का लौह स्तंभ भारतीय धातु विज्ञान की उन्नत अवस्था का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रतीकात्मक उदाहरण माना जाता है। लगभग सोलह शताब्दियों से अधिक समय तक खुले वातावरण में रहने के बावजूद इसका जंग–रहित बना रहना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि प्राचीन भारत में धातुओं के शोधन, मिश्रधातु निर्माण तथा संरक्षण की तकनीकों का गहरा व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध था। यह केवल शिल्पकला या सौंदर्यबोध का परिणाम नहीं था, बल्कि धातु की संरचना, ताप नियंत्रण, निर्माण प्रक्रिया और पर्यावरणीय प्रभावों की समझ पर आधारित एक सुनियोजित तकनीकी उपलब्धि थी। आधुनिक धातु विज्ञान के अध्ययनों में यह पाया गया है कि लोहे की संरचना में उपस्थित विशेष रासायनिक तत्वों और सतह पर बनने वाली सुरक्षात्मक परत ने इसे दीर्घकाल तक क्षरण से बचाए रखा, जो उस समय के कारीगरों और वैज्ञानिकों की प्रयोगात्मक दक्षता को दर्शाता है। भारतीय धातु विज्ञान केवल लौह स्तंभ तक सीमित नहीं थाया प्राचीन भारत में लौह, तांबा, कांस्य और इस्पात के निर्माण की उन्नत तकनीकें विकसित थीं। विशेष रूप से वूट्ज स्टील (Wootz Steel) का निर्माण विश्वभर में प्रसिद्ध था, जिसे मध्यकालीन काल में पश्चिमी एशिया और यूरोप तक निर्यात किया जाता था। यह दर्शाता है कि धातु विज्ञान एक व्यवस्थित तकनीकी ज्ञान था, जो निरंतर प्रयोग, निरीक्षण और अनुभव के आधार पर विकसित हुआ। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा में तकनीकी विज्ञान और व्यावहारिक प्रयोगों को उच्च महत्व प्राप्त था, और यह परंपरा केवल सैद्धांतिक चिंतन तक सीमित न होकर वास्तविक जीवन की उपयोगिता से गहराई से जुड़ी हुई थी।

9. भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान का संवाद

यदि गहराई से विश्लेषण किया जाए तो भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान में कई समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। दोनों ही ज्ञान को अंतिम नहीं मानते, बल्कि उसे निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में "नेति–नेति" की अवधारणा और आधुनिक विज्ञान में सिद्धांतों की निरंतर समीक्षा – दोनों ही ज्ञान की गतिशीलता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दार्शनिक परंपरा में सत्य की खोज को एक खुली और सतत यात्रा माना गया है, जहाँ हर निष्कर्ष अगले प्रश्न का आधार बनता है। इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान भी किसी सिद्धांत को स्थायी सत्य घोषित नहीं करता, बल्कि नए प्रमाणों और प्रयोगों के आधार पर उसे संशोधित करने के लिए सदैव तैयार रहता है। उपनिषदों में ज्ञान को अनुभव और चिंतन के समन्वय से समझने पर बल दिया गया है, जबकि आधुनिक विज्ञान निरीक्षण, प्रयोग और विश्लेषण के माध्यम से सत्य की खोज करता है। दोनों ही परंपराएँ जिज्ञासा को ज्ञान का मूल आधार मानती हैं। भारतीय दर्शन में चेतना और पर्यवेक्षक की भूमिका पर जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं, वे आधुनिक वैज्ञानिक चर्चाओं, विशेषकर संज्ञानात्मक विज्ञान और आधुनिक भौतिकी, से संवाद स्थापित करते हुए दिखाई देते हैं। साथ ही, भारतीय चिंतन ज्ञान को केवल बाहरी जगत तक सीमित नहीं रखता, बल्कि आत्म–अनुभूति और आंतरिक अवलोकन को भी महत्वपूर्ण मानता है। आधुनिक विज्ञान भी अब मानव अनुभव, मस्तिष्क और चेतना के अध्ययन की ओर गंभीरता से अग्रसर है। इस प्रकार दोनों परंपराएँ अलग होते हुए भी सत्य की खोज, निरंतर संशोधन और बौद्धिक विनम्रता के साझा सिद्धांत पर आधारित दिखाई देती हैं।

10. समकालीन संदर्भ और भविष्य की दिशा

आज जब विज्ञान और तकनीक तीव्र गति से विकसित हो रहे हैं, तब भारतीय ज्ञान परंपरा की वैज्ञानिक दृष्टि हमें संतुलित विकास की दिशा प्रदान करती है। यह परंपरा सिखाती है कि विज्ञान केवल भौतिक उन्नति का साधन नहीं, बल्कि मानव–कल्याण और प्रकृति के साथ सामंजस्य का माध्यम भी होना चाहिए। तर्क विवेक देता है, अनुभव गहराई देता है और प्रयोग सत्य की पुष्टि करता है यही भारतीय वैज्ञानिक चेतना का मूल है।

निष्कर्ष

अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल धार्मिक या दार्शनिक धारा नहीं थी, बल्कि तर्क, अनुभव और प्रयोग के समन्वय पर आधारित एक सशक्त वैज्ञानिक परंपरा भी थी। न्याय दर्शन की तर्कपद्धति, वैशेषिक दर्शन की पदार्थ–चेतना, आयुर्वेद की अवलोकन आधारित चिकित्सा, शल्य चिकित्सा की प्रयोगधर्मिता तथा गणित और खगोल विज्ञान की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस परंपरा को भावनात्मक दृष्टि से नहीं, बल्कि आलोचनात्मक और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पुनः समझा जाए, ताकि यह भविष्य के ज्ञान–निर्माण में प्रेरणादायी भूमिका निभा सके।

संदर्भ

1. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली (2008). भारतीय दर्शन (भाग 1–2)। नई दिल्लीः राजपाल एंड संस।
2. शर्मा, चंद्रधर (2011). भारतीय दर्शन का समालोचनात्मक इतिहास। दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास।
3. कणाद. वैशेषिक दर्शन (संस्कृत ग्रंथ संस्करण)। वाराणसीः चौखंबा संस्कृत सीरीज।
4. गौतम, अक्षपाद. न्यायसूत्र (सम्पादित संस्करण)। वाराणसीः चौखंबा विद्याभवन।
5. त्रिपाठी, ब्रह्मानंद (सम्पा.) (2013). चरक संहिता। वाराणसी : चौखंबा सुरभारती प्रकाशन।
6. शास्त्री, अंबिकादत्त (सम्पा.) (2010). सुश्रुत संहिता। वाराणसीः चौखंबा संस्कृत संस्थान।
7. सिंह, ओमप्रकाश (2016). प्राचीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का इतिहास। नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास (NBT)।
8. Bag, A. K. (1979). Mathematics in Ancient and Medieval India. New Delhi: Chaukhamba Orientalia.

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज, विज्ञान एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाएं भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फान्ट में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। लेख के अनुरूप 5 से 7 (की वर्ड) (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द सीमा 2000 से 2500 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई–मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा–पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे संपादक मंडल नहीं। रचना के अंत में अपना पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई–मेल पता अंकित करें।

– संपादक
सुमित राय
E-mail : anantanaadi26@gmail.com

भारतीय ज्ञान परंपरा के दार्शनिक आयाम

डॉ. अवधेश यादव
(असिस्टेंट प्रोफेसर)
लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली– 110 052

शोध सार

भारतीय ज्ञान परंपरा एक दीर्घकालीन, बहुआयामी और गहन वैचारिक धरोहर है, जिसमें दर्शनशास्त्र का एक केंद्रीय और सशक्त स्थान रहा है। यह परंपरा न केवल आध्यात्मिक और धार्मिक चिंतन में समृद्ध रही है, बल्कि तर्क, अनुभव, नैतिकता और मानव जीवन की जटिल समस्याओं के समाधान हेतु विविध दार्शनिक दृष्टिकोणों को भी जन्म देती है। वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, और शास्त्रों से लेकर बौद्ध, जैन, चार्वाक, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत तक अनेक मतों और उपमतों ने सत्य, आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, कर्म, पुनर्जन्म, इंद्रियज्ञान, तर्क और मुक्ति जैसे मूल प्रश्नों पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत किया है।

यह परंपरा एक ओर जहाँ आत्मा की अमरता, ब्रह्म की सार्वभौमिकता और मोक्ष की प्राप्ति की खोज करती है, वहीं दूसरी ओर चार्वाक जैसे भौतिकवादी मत भी प्रस्तुत करती है, जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। जैन दर्शन का अनेकांतवाद और अहिंसा, तथा बौद्ध दर्शन की चार आर्य सत्यों एवं अष्टांगिक मार्ग जैसी अवधारणाएँ न केवल भारतीय चिन्तन को समृद्ध करती हैं, बल्कि एक सार्वभौमिक नैतिक विमर्श भी निर्मित करती हैं। भारतीय दर्शन का यह समावेशी, बहुविध और संवादशील स्वरूप उसे वैश्विक बौद्धिक परंपरा में विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।"

मुख्य शब्द – ज्ञान, वेद, संस्कृति, योग, समृद्धि, समरसता उपनिषद, सहजता।

प्रस्तावना

भारत एशिया महाद्वीप एवं सम्पूर्ण विश्व का एक विशाल भू–भाग युक्त प्रदेश है, जो संस्कृति एवं ज्ञान की दृष्टि से विश्व की प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। लिखित व मौखिक दोनों ही स्वरूपों में यह ज्ञान का आदि स्रोत है। ऋग्वेद विश्व का प्रथम ग्रंथ स्वीकार किया गया है। भारत की ज्ञान परम्परा वेद ग्रंथों के रचनाकाल से स्वीकृत हुई है परन्तु, यह मात्र प्रमाणित, लिखित व दृश्य ज्ञान है। यथार्थ में, भारतीय ज्ञान परम्परा का आरंभ मौखिक व श्रव्य स्वरूप में इससे कई वर्षों पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। सामान्य रूप में परम्परा का शाब्दिक अर्थ है– 'बिना व्यवधान के शृंखला रूप में जारी रहना।' अर्थात् ज्ञान की वह प्रणाली जिसमें, किसी विषय या उपविषय का ज्ञान बिना किसी परिवर्तन के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचारित होता रहता है। भारत के संदर्भ में कहा जाता है– ''प्राचीन भारतीय समृद्धि और समरसता के मूल में प्राकृतिक संपदा, कृषि और गोवंश थे।

प्राकृतिक संपदा के रूप में हमारे पास नदियों के अक्षय भण्डार के रूप में शुद्ध और पवित्र जल स्रोत थे। हिमालय और उष्णकटिबंधीय वनों में प्राणी और वनस्पति की जैव विविधता वाली जलवायु थी। मसलन मामूली सी कोशिश आजीविका के लायक पौष्टिक खाद्य सामग्री उपलब्ध करा देती थी। इसीलिए नदियोंके किनारे और वनप्रांतरों में मानव सभ्यता और भारतीय संस्कृति विकसित हुई। आहार की उपलब्धता सुलभ हुई तो सृजन और चिंतन के पुरोधा सृष्टि के रहस्यों की तलाश में जुट गए। आर्थिक संसाधनों को समृद्ध बनाने के लिए ऋषि मुनियों ने नए–नए प्रयोग किए''।[1] ऋषि मुनियों ने जब जीवन व जगत को लेकर नए प्रयोग किए, नए अनुभव प्राप्त किए, उन्हें शास्त्रार्थ की तार्किकता के माध्यम से सत्य–असत्य और उपयोग अनुपयोग की कसौटियों पर कसकर मानव हित में रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है। शास्त्रार्थ भी भारतीय ज्ञान के तार्किक, तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक व श्रेष्ठ शोधपरक दृष्टि का परिचायक है।

ऋषि और मुनि मंत्रदृष्टा मात्र नहीं रहे हैं, वरना उन्होंने विद्योपदेश के माध्यम से जन सामान्य तक ज्ञान को प्रेषित करने में अहम् भूमिका निभाई है। ''ज्ञान, सदाचार, कलाएँ जो कुछ साहित्य के विविध रूपों में विद्यमान है, उनके लिए हम प्राचीन विद्वानों और ऋषि–मुनियों के प्रति कृतज्ञ है। उन्हीं की कृपा से आज हमको श्रुति, स्मृति, वेदाँग, चौसठ महाविद्या और कलाओं के मूल तथ्यों का ज्ञान हो सकता है अथवा कम से कम उनके अस्तित्व का पता लग सकता है। यह समस्त साहित्य देववाणी अथवा संस्कृत में प्रकट किया गया है, परन्तु ज्ञान की परम्परा में किसी विशेष भाषा या उसके विशेष रूप का बंधन नहीं है। भगवान बुद्ध और जैन आचार्यों ने पाली, मागधी आदि प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया और उनकी परम्परा भी आज तक चली आ रही है। हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती, उडिया, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, पंजाबी, आसमी आदि आजकल की प्रचलित प्राकृत भाषाएँ हैं, जिनमें संत, महात्मा, सुधारकों ने सदाचार की शिक्षाएँ देकर अपनी परम्परा को स्थिर रखा है। इन सबकी परम्परागत शिक्षाएँ अधिकांश में लेखबद्ध हैं''।[2]

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रकृति, प्राकृतिक संसाधन व मानव जीवन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इनके संरक्षण विकास और

प्रयोग के द्वारा जीवन को सरल व सहज बनाने का प्रयास भारतीय ज्ञानियों ने किया। ''दूरदृष्ट्रा मनषियों ने हजारों साल पहले ही लंबी ज्ञानसाधना व अनुभवजन्य ज्ञान से जान लिया था कि प्राकृतिक संसाधनों का कोई विकल्प नहीं है। वैज्ञानिक तकनीक से हम इनका रूपान्तरण अथवा कायान्तरण तो कर सकते हैं, किन्तु तकनीक आधारित किसी भी आधुनिकतम ज्ञान के बूते इन्हें पुनर्जीवित नहीं कर सकते''[3]।' प्राकृतिक संपदा का ऐसा महत्त्व सम्पूर्ण विश्व साहित्य में भारत के अतिरिक्त किसी अन्य साहित्य में दिखाई नहीं देता है।

भारत में ज्ञान व्यावहारिक अनुभवों की उपज है। हजारों–सैंकड़ों वर्षों के अनुभवों से निकाले गए निष्कर्ष शास्त्रों के रूप में परिणत होते हैं। ''जो परिणाम अनेक घटनाओं से निकलता है और अनुभव सिद्ध हो जाता है, वही नीति अथवा आचार शास्त्र का नियम बन जाता है।[4] सब घटनाओं को बारम्बार दोहराने के बदले एक भारी महत्त्व की घटना को देकर एक सूत्र या नियम निर्धारित कर देना पर्याप्त नहीं है। भारतीय श्रुतियों व स्मृतियों में ऐसे असंख्य सूत्र हैं। पुराणों, इतिहासों आदि में वही सूत्र कथा के साथ समझाये गये हैं। उनमें उदाहरणों की कमी नहीं होती, सर्ग, प्रति सर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितों द्वारा प्राचीन परम्परा का संकलन किया गया है [5]। यह किसी देश या किसी राज्य का इतिहास नहीं है। यह सारी सृष्टि का इतिहास है और इतने लम्बे जमाने का निचोड़ है, जिसमें असंख्य राष्ट्रों का जन्म, यौवन, प्रौढ़ता, बुढ़ापा और नाश होता रहा है''। प्राकृत अपभ्रंश और वर्तमान हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य तक चली आ रही है। इनकी रचना जीवनोपयोगी शोध का परिणाम है। शोध के लिए जिज्ञासा प्रथम आवश्यक शर्त है। वेदों में ब्रह्माण्ड के प्रति यह जिज्ञासामूलक भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हैं[6]। उपनिषद वेदग्रंथों के सूक्तों की व्याख्या के रूप में निर्मीत हुए हैं। चार वेद ग्रंथों के व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध का परिणाम अठारह उपनिषद, श्रुतियाँ और स्मृतियाँ हैं।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य प्रकृति के रहस्यों को अनावृत्त करने के प्रयास में सृजित है। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में सृष्टि निर्माता ईश्वर की स्थिति और सृष्टि रचना के सूत्रों को तार्किकता के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। वैदिक साहित्य के शब्दों की व्याख्या व उत्पत्ति की चर्चा करने वाले ग्रंथ 'निघण्टु' भारतीय ज्ञान की अन्वेषणात्मक प्रतिभा के नमूने हैं। इसके रचनाकारों ने वेद के एक–एक शब्द को प्रकृति, प्रत्यय, मूल धातु, संबंधित कर्म, प्रयोग, प्रकार आदि की उत्पत्ति, अर्थ, भाव, व्युत्पत्ति के संदर्भ में विश्लेषित किया है। यह भाषा विज्ञान की तुलनात्मक, विवरणात्मक, संरचनात्मक विधियों का प्रारंभिक प्रयोग है।
वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत की धारा प्रवाहित होती है। भारतीय भाषा को सुदृढ़ व स्थिर करने के दृष्टिकोण से पाणिनी के ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' का सृजन हुआ। यह ग्रंथ संस्कृत अथवा किसी भी भाषा के ग्रंथ को व्याकरण निबद्ध करने का प्रथम उत्कृष्ट प्रयास है। ईसापूर्व तीसरी शती में आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' शीर्षक ग्रंथ की रचना की। यद्यपि यह ग्रंथ नाट्य कला के संदर्भ में सैद्धान्तिक विवेचन का ग्रंथ है, परन्तु इसमें नाटक व साहित्य के साथ अन्य कलाओं को सैद्धान्तिक आधार प्राप्त होता है[7]। इस ग्रंथ में नाटक के प्रदर्शन के लिए बनाए जाने वाले रंगमंच के प्रकारों एवं उनके आकारगत विवेचन को पढ़कर वर्तमान नगरीय अभियांत्रिकीय सिविल इंजीनियरिंग की पुस्तकें और सूत्र फीके नजर आते हैं। रंगमंच का इंच–इंच आकार और दर्शक मण्डप, पार्श्व भाग आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एवं आकार का विस्तृत विवेचन इसमें उपलब्ध है। इसी प्रकार 'रस सूत्र' के माध्यम से रस निष्पत्ति की प्रक्रिया तथा रसावयवों का विवेचन, मनोवैज्ञानिक ग्रंथों की आधारभूमि बनाता है[7]। संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य आदि विविध विषयों का सैद्धान्तिक ज्ञान व्यावहारिक भूमि पर इस ग्रंथ में स्थापित है।
महर्षि पतंजलि द्वारा प्रवर्तित आयुर्वेद आज विश्वभर में अपनी धूम मचा रहा है। जहाँ समस्त चिकित्सा पद्धतियाँ, रोग नियंत्रण के सूत्रों पर आधारित है, वही आयुर्वेद रोग प्रतिरोध व रोग मुक्ति के सिद्धान्त पर काम करता है। प्राकृतिक संपदा का प्रयोग कर मनुष्य शरीर को स्वस्थ, निरोग रखना तथा प्रत्येक रोग की प्रतिरोधी क्षमता विकसित करना आयुर्वेद की लाभकारी प्रक्रिया है। आयुर्वेद शास्त्र के साथ–साथ भारतीय जनमानस की सहज प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति है, जिसमें मनुष्य अपने पास उपलब्ध प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग कर किसी भी रोग का प्रतिरोध तंत्र विकसित कर सकता है। इसी के साथ भारतीय योग चिकित्सा भी स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हितकारी रही है। यहाँ उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद व योग के सिद्धान्त एक दिन में किसी प्रयोगशाला में प्रयोग कर नहीं गढ़े गए हैं, वरन् वे सदियों की परम्परा से बने जीवनानुभवों के सार की सैद्धान्तिक परिणति है।
भारत का कृषि ज्ञान एवं मौसम विज्ञान भी आनुभाविक अनुसंधान दृष्टि से विकसित हुआ है। एक सामान्य किसान चिडिया के अण्डों, घोंसले का निर्माण आदि से वर्ष पर्यन्त की वर्षा का पूर्वानुमान कर लेता है। गाय–बैल की आवाजों और आदतों में उसे तूफान, पानी, आँधी, अकाल, पशु की बिमारी आदि का पूर्वानुमान हो जाता है। सूर्य–चाँद के वलय आने वाले समय की भविष्यवाणियाँ कर देते हैं। ये भविष्यवाणियाँ अवैज्ञानिक नहीं है, वरन् कई वर्षों से चले आ रहे अनुभवों की परम्परा का ठोस आधार लेकर निर्मीत हुई है, जिनकी सत्यता किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष की सत्यता के समानान्तर प्रमाणित की जा सकती है।

भारतीय ज्ञान परम्परा की एक उपलब्धि गौत्र व्यवस्था में भी दृष्टिगत है। वंश परम्परा के अनुसार गौत्र का निर्धारण होता है। अर्थात् यह व्यवस्था रक्त संबंधों व आनुवांशिक प्रणाली के आधार पर निर्मीत हुई है। विवाह संबंध स्थापित करने में रस की मुख्य भूमिका रहती है।

वर्तमान के वैज्ञानिक जब एक ही आनुवांशिक गुणसूत्रों वाले व्यक्तियों से उत्पन्न संतान के मानसिक–शारीरिक अस्वस्थता की बात कहते हैं, तब भारतीय गौत्र व्यवस्था की वैज्ञानिकता स्थापित होती है, जिसमें सात पीढ़ियों तक सगोत्रीय विवाह वर्जित माना गया है। वर्तमान में मनुष्य के बौद्धिक स्तर में कमी इस व्यवस्था के प्रतिकूल विवाह संबंध स्थापित होने के कारण से हैं। वात्स्यायन द्वारारचित 'कामसूत्र' स्त्री–पुरुष के शारीरिक–मानसिक संबंधों पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से लिखी गई रचना है। वर्तमान में पाश्चात्य देशों में किशोरों व युवाओं को दी जाने वाली अनिवार्य 'सेक्स एज्युकेशन' की तुलना में यह पुस्तक बहुत ही सरस रोचक उदाहरणों के माध्यम से काम विषयक जिज्ञासाओं को शांत करती है। अत्यंत सहजता से किसी अकथनीय विषय पर

संवाद इस रचना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

वर्तमान युग अर्थप्रधान है। समस्त ज्ञान–विज्ञान की बात करते हुए अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा आवश्यक हो जाती है। कौटिल्य अर्थात् चाणक्य के द्वारा लिखा गया ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण आधार है।

इसमें राजनीति तंत्र व अर्थ तंत्र दोनों ही व्यवस्थाओं पर समान दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निहित हैं, जो किसी भी देश को सुदृढ़ बनाने हेतु उपयोगी हो सकते हैं। भारत को आर्थिक दृष्टिकोण से कृषि प्रधान देश की संज्ञा प्राप्त है। यह स्थिति भारत की अर्थव्यवस्था संबंधी समझ को प्रतिबिम्बित करती है। कृषि संस्कृति वह स्थिति है, जिसमें मानव जीवन यापन हेतु प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहता है। इसके अन्तर्गत, खेती किसानी मात्र नहीं, अपितु इनसे संबंधित अन्य लघु व कुटीर उद्योग भी सम्मिलित हो जाते हैं।

यह व्यवस्था कम लागत पर अधिक लाभ की व्यवस्था है। इसमें हानि की संभावना बहुत कम होती है। कम लागत में अधिक आय इसका प्रत्यक्ष लाभ है, साथ ही कई अप्रत्यक्ष लाभ भी सन्निहित हैं। जैसे– शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य, पर्यावरण सुरक्षा, सामाजिक सहसंबंध, कम जोखिम, संसाधनों का पुनर्नवीनीकरण आदि। इस प्रक्रिया में कई आर्थिक समृद्धि के सूत्र हैं, जो समावेषी विकास सथापित करने में सक्षम हैं। वर्तमान में 'मेक इण्डिया' के लिए जिस 'मेक इन इण्डिया' का नारा दिया जा रहा है, उसका देशज आधार पूर्वोक्त कृषि संस्कृति है।

राजनीति भी किसी देश के विकास और उसकी सुदृढ़ स्थिति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। रामायण, महाभारत, रामचरितमानस जैसी काव्य रचनाएँ जिन्हें हम पौराणिक–धार्मिक रचनाओं के रूप में याद करते हैं, वे राज्य व समाज के लिए नीति निर्माण की आदर्श भूमि का निर्माण करते हैं। जैसे– रामभक्त कवि तलसीदास ने 'रामराज्य' की परिकल्पना की है. जिस राज्य में प्रजा की स्थिति इस प्रकार होनी चाहिए– 'तुलसीदास न का परिकल्प का है, जिस राज्य में प्रजा की स्थिति इस प्रकार होनी चाहिए[8]–

चारि चरन धर्म जब माहीं, पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।
राम भगति रत नर अरु नारी, सकल परम गति के अधिकारी।
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा, सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहीं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।

अर्थात् कोई भी नागरिक दुखी या दरिद्र न रहे। यह स्थिति वर्तमान में किसी विकसित देश में भी असंभव है। शांति, आनंद, न्याय व सौहार्द्र किसी राज्य की स्थिति के अनिवार्य घटक हो, तब जाकर रामराज्य की की कल्पना साकार होगी। नैतिकता के उच्च बंधन, त्याग वृत्ति, मानवता, शांति, उदारता, दया, सार्वभौमिक व सार्वकालिक तथ्य हैं, जिनसे कोई भी राष्ट्र आदर्श सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था का ढाँचा निर्मीत कर सकता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा की समृद्ध विरासत में शोध एक अनिवार्य तत्व के रूप में निहित है। ज्ञान सृजन में, ज्ञान की परम्परा के विकास में और ज्ञान के उपयोग में, सभी सोपानों पर इस अन्वेषण वृत्ति का दिग्दर्शन किया जा सकता है। उपर्युक्त विवरण में शोध व अन्वेषी दृष्टिकोण से सृजित ज्ञान की समृद्धि पर चर्चा की गई है। भारतीय परम्परा में अनुसंधान दृष्टि विस्तृत, सूक्ष्म और गहन है, परन्तु उसके निष्कर्षों की अभिव्यक्ति रचनात्मकता के साथ की गई है[9]। यथा– प्राणी विज्ञान में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के शरीर निर्माण में पानी, हवा आदि कायोगदान रहता है। भारतीय संतों ने कई स्थानों पर शरीर रचना के पाँच घटकों का उल्लेख किया है। पंच तत्वों के संतुलन द्वारा शरीर सुचारु गति से चलता है, यह स्थापना चिकित्सा विज्ञान का आधार है। संतों के द्वारा अपनी वाणियों में सहजता के साथ शरीर संरचना, मानसिक संतुलन, समाज संरचना, राज्य व्यवस्था, पर्यावरण, कला एवं ज्ञान–विज्ञान के विविध विषयों पर शोधपरक विवरण संकलित है।

अंत में, अनुसंधान से प्राप्त ज्ञान की परम्परा और उसके उपयोग पर बात करना भी आवश्यक है। भारत में ज्ञान प्राप्ति अर्थात् शिक्षार्जन, श्रवण–लेखन के साथ आनुभाविक व प्रयोगात्मक प्रविधि से होता आया है[10]। ज्ञानार्जन के लिए शिक्षार्थी में कुछ गुणों की स्थिति अनिवार्य है। विद्यार्थी कौन होगा, इसके लिए शारीरिक–मानसिक स्तर के साथ नैतिक–सामाजिक स्तर के मानदण्ड भी हैं। यह स्थिति बताती है कि विशिष्ट प्रकार के ज्ञान को योग्य विद्यार्थी ही ग्रहण कर सकता है। जहाँ विद्यार्थी की योग्यता का प्रश्न उठता है, वहाँ परिवेश की संरचना और ज्ञान की उपयोगिता के प्रश्न भी सम्मिलित हो जाते हैं। प्रकारान्तर से यह शोध निष्पत्ति की उपादेयता का प्रश्न है। ''भारत के प्राचीन गंथ ज्ञानानुशासन, शांति, सहनशीलता, परोपकार, धर्मपरायणता के साथ–साथ कर्मवादिता का संदेश देते हैं[11]। युद्ध के कुछ क्षण पूर्व भी युद्ध से बचने–बचाने की कोशिश–कवायद कदाचित ही विश्व के किसी देश में दिखाई देगी। इस दृष्टि से भी निश्चय ही हमें अपने ग्रंथों और ज्ञान परम्परा की ओर लौटने की जरुरत है''।

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान परम्परा में ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञानार्जन और ज्ञानोपभोग तीनों ही चरणों में शोध की महती भूमिका दिखाई देती है[12]। भारतीय ज्ञान परम्परा श्रवण–लेखन अर्थात् मौखिक व लिखित दोनों रूपों में उपलब्ध है। यह एक समृद्ध विरासत है, जो अनुशासन से मनुष्य को संस्कारित करती है। कर्मवाद इसका मुख्य साधन है। जैसा कि जयशंकर प्रसाद कामायनी में कहते हैं– 'इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।'[13] ज्ञान व कर्म का मेल सिद्धि के लिए आवश्यक है। कर्मयोग व ज्ञानयोग दोनों ही समान महत्त्व रखते हैं। इसमें इतिहास, भाषा विज्ञान, भूगोल, नृतत्व शास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, ज्योतिष, जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित आदि विषयों से लेकर समस्त कलाओं के शोधपरक आनुभाविक सिद्धान्त निहित हैं। वर्तमान शोध प्रक्रिया मात्र सिद्धान्त निर्माण तक

सीमित है, परन्तु भारतीय ज्ञान परम्परा अनुभव से सिद्धान्त और सिद्धान्त निर्माण से कर्म की पूरी प्रक्रिया में गतिमान होती है। अतः अनुसंधान की चरम सीमा व प्रभावी व्यावहारिकता इसमें सन्निहित है[14]।

संदर्भ सूची

1. दासगुप्त, सूर्यकान्त. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1–5, मोटिलाल बनारसीदास प्रकाशन, वाराणसी।
2. राधाकृष्णन, डॉ. एस. भारतीय दर्शन (Indian Philosophy), खंड 1 एवं 2, .ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. चटर्जी, सत्येन्द्रनाथ एवं दत्त, द्वारिकानाथ. Introduction to Indian Philosophy, यूनिवर्सल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. शर्मा, चन्द्रधर. भारतीय दर्शनः एक परिचय, मोटिलाल बनारसीदास, दिल्ली।
5. उपाध्याय, रामचन्द्र. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली।
6. महादेवन, टी.एम.पी. Outline of Hinduism, चक्रवर्ती एंड कंपनी, मद्रास।
7. मुनि, श्रीनिवास. बौद्ध दर्शन और उसका विकास, नालंदा पुस्तकालय, नालंदा।
8. जैन, जगदीशचन्द्र. जैन दर्शन और संस्कृति, भारतीय विद्या भवन, मुंबई।
9. भट्टाचार्य, विद्याभूषण. भारतीय दर्शन का इतिहास, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस।
10. Patanjali : Yoga Sutras of Patanjali, अनुवादः स्वामी सत्यनन्द .सरस्वती, बिहार योग भारती।
11. Chakravarthi S. Hinduism, A Philosophical Study, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai.
12. Mohanty J.N. Classical Indian Philosophy, Oxford University Press, New Delhi.
13. उपनिषद संग्रह, संपादकः स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
14. भगवद्गीता– श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य सहित, आचार्य शंकर, गीता प्रेस, गोरखपुर।

भूमण्डलीकरण एवं असंगठित श्रमिकों का सामाजिक – सांस्कृतिक जीवन (गोरखपुर नगर के विशेष संदर्भ में)

डॉ0 विवेक प्रकाश सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर,
विश्वविद्यालय समाजशास्त्र विभाग
भूपेन्द्र नारायण मण्डल विश्वविद्यालय मधेपुरा (बिहार)
Email - vivek.85ns@gmail.com, Mob - 9807771870

सारांश

भारत में कुल श्रमशक्ति के इस बड़े हिस्से की दुर्दशा किसी से छिपी नहीं हैं। सामान्यतः असंगठित क्षेत्र में ऐसे सभी श्रमिकों को शामिल किया जाता है जिन्हें किसी भी प्रकार से परिभाषित नहीं किया जा सकता तथा जो नियोक्ता के अधिक शक्तिशाली होने, रोजगार की आकस्मिक प्रकृति, अशिक्षा, उद्योगों के बिखरे होने आदि कारणों से सामान्य उद्देश्यों के लिए संगठित नहीं हो पाते हैं। 1990 की आर्थिक नीति के पश्चात् भारत में रोजगार तो बढ़ा परन्तु बाजारीकरण की शोषणकारी दशाओं ने इन श्रमिकों की दशा को और सोचनीय बना दिया है। असंगठित क्षेत्र एक प्रकार की दोधारी तलवार है जिसमें कार्यरत श्रमिक को न तो उचित मजदूरी का वैधानिक अधिकार प्राप्त होता है और न रोजगार की सुरक्षा प्राप्त होती है। आज पूरा विश्व भूमण्डलीकरण घटना से प्रभावित है, भारत भी इससे अछूता नहीं है। वस्तुतः भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया देश में किसी न किसी रूप में हमेशा रही है और समय के साथ त्वरित एवं परिवर्तित होती गयी है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि भूमण्डलीकरण का श्रम विशेषकर असंगठित श्रम पर क्या प्रभाव पड़ा है, का विश्लेषण किया जाय।

मुख्य शब्द : असंगठित क्षेत्र, भूमण्डलीकरण

प्रस्तावना

भूमण्डलीकरण कोई नयी अवधारणा नहीं है, न ही भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अकस्मात आ धमकी है। वस्तुतः यह प्रक्रिया किसी न किसी रूप में हमेशा रही है। वर्तमान भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया 15–16वीं शताब्दियों के दौरान अंकुरित होने लगी थी जो पूँजीवाद से जुड़ी थी। 19वीं शताब्दी के मध्य तक आते–आते पूँजीवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था बन गया और विश्व के सभी देश अपने घरेलू उत्पादन–पद्धतियों में अन्तर के बावजूद विश्वपूँजीवाद से कमोवेश जुड़ गये। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के मध्य से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ तक काफी त्वरित रही। माल, पूँजी और जनसंख्या का अन्तराष्ट्रीय प्रभाव लगातार बढ़ता गया किन्तु 1914 से 1991 के मध्य यह प्रक्रिया धीमी हो गयी।[1] गुट निरपेक्ष आन्दोलन व आत्मनिर्भर स्वतंत्र अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण हाशिये पर चला गया। पूँजी, बाजार, प्रौद्योगिकी आदि के लिए नवस्वतंत्र देश प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका व उसके सहयोगी देशों पर निर्भर हो गये। इस प्रकार भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया त्वरित ही नहीं हुई वरन उसका स्वरूप भी बदल गया।

भूमण्डलीकरण का वैचारिक आधार व वर्तमान स्वरूप :

भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर के वैचारिक आधार को वाशिंगटन आमराय के रूप में जाना जाता है। इस पद (वाशिंगटन आमराय) का सृजन जान विलियम्सन ने सन् 1990 में किया।[2] यह आमराय अमेरिकी सरकार, अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और इण्टर अमेरिकन डेवलपमेण्ट बैंक (अब विश्व व्यापार संगठन) के दृष्टिकोण का सूचक है।[3] इसमें दस बातें शामिल हैं[4]–राजकोषीय अनुशासन, सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी प्राथमिकताओं में परिवर्तन, कर सम्बन्धी सुधार, वित्तीय उदारीकरण, विनिमय दर, व्यापार का उदारीकरण, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, निजीकरण, नयी देशी–विदेशी प्रतिष्ठानों का प्रवेश, सम्पति सम्बन्धी अधिकारों का इस्तेमाल व हस्तानान्तरण। इस आमराय का अभिप्राय है–एल०पी०जी० (उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण)। भूमण्डलीकरण का अभिप्राय[5] है–अर्थव्यवस्था को सक्रिय रूप से जोड़ना। इसके लिए आयात पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटाना, सीमा शुल्क की दर को वैश्विक स्तर पर लाकर घरेलू अर्थव्यवस्था को अधिक प्रतिस्पर्धी बनाना, विदेशी तकनीक एवं सहयोग व विदेशी प्रपत्र निवेश एवं पोर्टफोलियो निवेश के अन्तर्प्रवाह को मुक्त करना।

वाशिंगटन आमराय के जनक जान विलियम्सन ने 10 वर्ष बाद सन् 2000 में रेखांकित किया कि द्रुत आर्थिक विकास की कुंजी न तो देश के प्राकृतिक संसाधनों मे निहित है और न ही प्राकृतिक/मानवीय पूँजी के परिमाण व गुणवत्ता में। वस्तुतः उसके लिए आर्थिक नीतियों का एक सही सेट या समूह चाहिए। वाशिंगटन आमराय राज्य की सक्रिय भूमिका को अस्वीकार करती है। उसका मानना है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य कम से कम हस्तक्षेप करे। उसकी धारणा है कि राज्य संरक्षणवाद, सब्सिडी और अपने स्वामित्व में उद्यमों को स्थापित कर अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालती है। राज्य को आर्थिक उदारता, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के निजीकरण और समाष्टिगत स्थिरता (मैक्रोस्टेविलिटी) को बढ़ावा देना चाहिए। वाशिंगटन आमराय के अनुसार किसी भी राज्य को अपने कार्यो को मात्र तीन क्षेत्रों तक ही सीमित रहना चाहिए।

(1) बाहरी दुश्मनों से सुरक्षा
(2) आन्तरिक कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना
(3) सड़क, नहर, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं आदि प्रदान करना

क्योंकि इन तीनों का उपभोग सभी करते हैं। इन तीनों कार्यो को पूरा करने के लिए अपेक्षित राजस्व जुटाने के उद्देश्य से टैक्स लगाना चाहिए। उसे न तो अर्थव्यवस्था का निनियमित करना चाहिए और न तो उसमें हस्तक्षेप करना चाहिए। उसे वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन तो कत्तई नहीं करना चाहिए। यदि बाजार तंत्र को बेरोकटोक अपना काम करने दिया जाय तो बिना कोई गड़बड़ी या उतार–चढ़ाव के अर्थव्यवस्था चलती रहेगी। इसलिए गरीबों के हित, मजदूरों के अधिकारों की रक्षा या सामाजिक न्याय के नाम पर अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने से राज्य को बचना चाहिए।

भारतीय श्रमिक समाज पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव :–

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय श्रमिक समाज पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव का आकलन करने के लिए उ०प्र० के गोरखपुर महानगर के 300 असंगठित श्रमिकों (232 पुरूष एवं 68 महिला श्रमिक) को प्रतिदर्श के रूप में लिया गया। ये श्रमिक नगर के सूक्ष्म एवं छोटे उद्योगों में कार्यरत हैं जिसमें से 80 प्रतिशत श्रमिक दिन में कार्य करके साय अपने निकटवर्ती स्थाई आवास (ग्राम या कस्बा) पर लौट जाते हैं। इन श्रमिकों के भूमण्डलीकरण सम्बन्धी दृष्टिकोण को साक्षात्कार एवं अनुसूची के माध्यम से ज्ञात करके आनुभविक उपागम का सहारा लेते हुए अध्ययन को यथासमभव सही ढ़ंग से अनुरेखण करने का प्रयास किया गया है।

भूमण्डलीकरण के प्रभाव के अन्तर्गत प्रस्तुत अध्ययन में श्रमिकों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन निम्नलिखित तीन उपवर्गों में बांटकर किया गया है–

1. श्रमिकों के रोजगार पर प्रभाव
2. श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योगों पर प्रभाव
3. श्रमिकों पर सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव

1. श्रमिकों के रोजगार पर प्रभाव : इस भूमण्डलीकरण का प्रभाव श्रमिकों के रोजगार पर भी पड़ा है। प्रस्तुत अध्ययन में चार बिन्दुओं (मजदूरी में वृद्धि, सुविधाओं में वृद्धि, कार्यस्थल के वातावरण में सुधार और रोजगार की गारण्टी आदि) के परिप्रेक्ष्य में इन श्रमिकों का विचार जानने का प्रयास किया गया है। तालिका सं0 1 में संकलित आंकड़ों के अध्ययन से स्पष्ट है कि 78.0 प्रतिशत श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई है। इन श्रमिकों के अनुसार पहले उन्हें मात्र 40 रूपये प्रतिदिन की दर से मजदूरी का भुगतान होता था परन्तु अब 60 रूपये से लेकर 100 रूपये तक दैनिक मजदूरी मिलती है। मजदूरी में इस वृद्धि के लिए काफी सीमा तक सरकार द्वारा लागू किए गए कानून का भी उल्लेखनीय योगदान है। सुविधाओं में वृद्धि से सम्बन्धित आंकड़ों के अध्ययन से स्पष्ट है कि बहुत कम श्रमिक (24.0 प्रतिशत) ऐसे हैं जिनकी सुविधाओं में वृद्धि हुई है। इन श्रमिकों का मानना है कि सेवायोजकों की ओर से स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ सुविधाएं एवं रहने के लिए स्वच्छ स्थान दिया तो गया है परन्तु यह सुविधाएं भी अपर्याप्त हैं। कभी–कभी तो आवासीय व चिकित्सीय सुविधाओं के बदले उनके सेवायोजक उनके वेतन/मजदूरी में से पैसे की कटौती कर देते हैं।

तालिका सं0 1
श्रमिकों के रोजगार पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

भूमण्डलीकरण का श्रमिकों के रोजगार पर प्रभाव	दृष्टिकोण	प्रतिदर्श श्रमिक	
		संख्या	प्रतिशत
मजदूरी में वृद्धि	हाँ	234	78.0
	नहीं	66	22.0
सुविधाओं में वृद्धि	हाँ	72	24.0
	नहीं	228	76.0
कार्यस्थल के वातावरण में सुधार	हाँ	67	22.3
	नहीं	233	77.7
रोजगार की गारण्टी	हाँ	38	12.6
	नहीं	262	87.4

कार्यस्थल के वातावरण में सुधार' सम्बन्धी आंकड़ों के अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वाधिक संख्या (76.0 प्रतिशत) ऐसे श्रमिकों की है जिनके कार्यस्थल के वातावरण में सुधार नहीं हुआ है। जिस प्रकार उन्हें पहले छोटे और सीलन भरे कमरे में काम करना पड़ता था उसी प्रकार आज की उन्हें उन्हीं अस्वास्थ्यकर दशाओं में काम करना पड़ता है। नई–नई मशीनों के आने से काम में जोखिम भी बढ़ा है; कार्यस्थल पर न तो सुरक्षा के समुचित प्रबन्ध है और न प्राथमिक चिकित्सा की कोई व्यवस्था है। स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण ने लोकल को ग्लोबल बना दिया है

परन्तु आज भी श्रमिकों के कार्यस्थल पर अस्वास्थ्यकर दशायें विद्यमान हैं।

प्रतिदर्श श्रमिकों से उनके रोजगार की गारण्टी के विषय में पूछा गया। 87.3 प्रतिशत श्रमिकों का मानना है कि उनके रोजगार की गारण्टी नहीं है; यदि मालिक या सेवायोजक को कम मजदूरों की आवश्यकता होती है तो वे अतिरिक्त मजदूरों को निकाल देते हैं। यही नहीं मशीनों के प्रयोग ने इनके लिए रोजगार के अवसर कम कर दिए हैं जैसे : अध्ययन क्षेत्र में 'ब्रेड के कारखाने' में काम करने वाले श्रमिकों ने बताया कि आंटा गूथने की इलेक्ट्रिक मशीन आने से कम से कम पांच श्रमिकों को काम से निकाल दिया गया क्योंकि यह मशीन पाँच श्रमिकों का काम अकेले और तुलनात्मक रूप से कम समय में कर लेती है।

2. श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योगों पर प्रभाव : प्रस्तुत अध्ययन में श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योगों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत मशीनीकरण, ऊर्जा की अधिक खपत, अधिक उत्पादन, छँटनीकरण और नए श्रमिकों की भर्ती से सम्बन्धित आंकड़ों (तालिका सं0 2) के अध्ययन से स्पष्ट होता है अधिकांश श्रमिक (60.7 प्रतिशत) जिस उद्योग या कारखाने में काम करते हैं वहां मशीनीकरण हो चुका है। यही नहीं मशीनों के प्रयोग ने ऊर्जा की खपत को भी बढ़ा दिया है। श्रमिकों से यह जानने का प्रयास किया गया कि मशीनों के अत्यधिक प्रयोग से उनके कार्यस्थल में विद्युत की खपत में वृद्धि हुई है या नहीं। अधिकांश श्रमिकों (72.3 प्रतिशत) का यही मानना है कि दिन–रात अधिक से अधिक उत्पादन की लालच में मशीनें लगातार चलायी जाती हैं जिससे कारखाने/कार्यस्थल में ऊर्जा की खपत में वृद्धि हुई है। श्रमिकों से यह पूछा गया कि उनसे सम्बन्धित उद्योगों में माल का उत्पादन बढ़ा है या नहीं। 61.0 प्रतिशत श्रमिकों का मानना है कि जहाँ वे काम करते हैं वहाँ माल का उत्पादन बढ़ा नहीं है क्योंकि बाजार में देशी एवं विदेशी ब्राण्डों द्वारा अब उन सामानों की बिक्री होने लगी है जो पहले स्थानीय उद्योगों में बनती थीं; इन ब्राण्डों के सामान गुणवत्ता की दृष्टि से भी अच्छे होते हैं इसलिए लोग इन्हें खरीदते हैं। ऐसी हालत में स्थानीय उत्पादनकर्ताओं द्वारा उत्पादित सामानों/मालों की बिक्री और परिणामतः उनका उत्पादन भी प्रभावित हुआ है।

भूमण्डलीकरण के प्रभाव से मशीनों का उपयोग बढ़ा है, रोजगार के नए साधनों/क्षेत्रों का सृजन तो हुआ है साथ–साथ श्रमिकां का छँटनीकरण भी हुआ है। 82.0 प्रतिशत श्रमिकों ने बताया कि उनके कारखाने में श्रमिकों की छँटनी हुई है; 79.3 प्रतिशत श्रमिक ऐसे हैं जिनके कारखाने में नये श्रमिकों की भर्ती भी नहीं हो रही है। इन श्रमिकों ने बताया कि पहले जो काम 3 या 4 श्रमिक मिलकर करते थे अब वही काम मात्र एक मशीन कर देती है; ऐसी स्थिति में श्रमिकों में कुशलता की कमी तथा मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों की छँटनी तो हो रही है साथ–साथ नए श्रमिकों की भर्ती भी नहीं हो रही है। आंकड़ों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव से उद्योगों का मशीनीकरण हुआ है, मशीनों की अधिकता से ऊर्जा की खपत में वृद्धि हुई है और श्रमिकों के छँटनीकरण को बढ़ावा मिला है। एक ओर श्रमिकों को निकाला जा रहा है तो दूसरी ओर नए श्रमिकों की भर्ती भी नहीं हो रही है परिणामतः बेरोजगारी बढ़ रही है और श्रमिकों का दिल्ली, मुम्बई, पंजाब आदि स्थलों की ओर पलायन हो रहा है।

तालिका सं0 2

श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योगों पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

भूमण्डलीकरण का उद्योगों पर प्रभाव	दृष्टिकोण	प्रतिदर्श श्रमिक	
		संख्या	प्रतिशत
मशीनीकरण	हाँ	182	60.7
	नहीं	118	39.3
ऊर्जा की खपत में वृद्धि	हाँ	217	72.3
	नहीं	83	27.7
अधिक उत्पादन	हाँ	117	39.0
	नहीं	183	61.0
माल की गुणवत्ता में वृद्धि	हाँ	72	24.0
	नहीं	228	76.0
छँटनीकरण	हाँ	247	82.3
	नहीं	53	17.7
नए श्रमिकों की भर्ती	हाँ	62	20.7
	नहीं	238	79.3

3. भूमण्डलीकरण के सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव : उपर्युक्त विवेचन के आलोक में प्रतिदर्श श्रमिकों पर भूमण्डलीकरण के सामाजिक –सांस्कृतिक प्रभाव (तालिका सं0 3) का अध्ययन किया गया है। इसके अन्तर्गत श्रमिकों से विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रश्न पूछे गए; जैसे : उनके रहन–सहन पर प्रभाव, त्योहार–उत्सवों पर प्रभाव, मानवीय मूल्यों पर प्रभाव, रिश्तों पर प्रभाव, यातायात के साधनों पर प्रभाव, गाँव/कस्बे के विकास पर प्रभाव।

तालिका सं0 2

श्रमिकों से पर भूमण्डलीकरण का सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव

भूमण्डलीकरण का सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव	प्रभाव का स्वरूप (श्रमिकों का दृष्टिकोण)	प्रतिदर्श श्रमिक	
		संख्या	प्रतिशत
रहन–सहन पर प्रभाव	सकारात्मक	76	25.3
	अनिश्चित	3	1.0
	नकारात्मक	221	73.7
त्योहार/उत्सवों पर प्रभाव	सकारात्मक	46	15.3
	नकारात्मक	254	84.7
मानवीय मूल्यों पर प्रभाव	सकारात्मक	97	32.3
	नकारात्मक	203	67.7

प्रतिदर्श श्रमिकों से उनके रहन–सहन में आने वाले परिवर्तनों पर बात की गयी और उनके दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया। तालिका सं0 3 के आंकड़ों से स्पष्ट है कि 25.3 श्रमिकों के रहन–सहन पर भूमण्डलीकरण का सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इन्हें अच्छी चिकित्सा, रोजगार तो मिला ही है साथ–साथ इनके बच्चों को को अच्छी शिक्षा भी मिल रही है। जो आवश्यक वस्तुएं इनके पहुंच से बाहर थीं वह अब कम दाम में बाजार में आसानी से प्राप्त हो रही हैं। इन श्रमिकों के अनुसार पहले ये गेहूँ खरीदकर पिसवाते थे परन्तु अब डिब्बा बन्द या खुले रूप में बिकने वाले आटे का प्रयोग करते हैं। यह श्रमिक पहले कपड़ा खरीद कर सिलवाते थे जो मंहगा पड़ता था परन्तु बाजार में अब सस्ते रेडीमेड कपड़े भी मिलने लगे हैं जिन्हें ये खरीदकर पहनते हैं, इससे इनके धन व समय दोनों की बचत होती है। इन श्रमिकों का यह भी कहना है कि ये अब मसाला पिसवाते नहीं हैं बल्कि 1 या 2 रूपये के छोटे–छोटे पाउच में बिकने वाले पिसे हुए मसालों का प्रयोग करने लगे हैं। 73.7 प्रतिशत असंगठित श्रमिकों के रहन–सहन पर भूमण्डलीकरण का नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इन श्रमिकों के अनुसार भूमण्डलीकरण के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मशीनों का हस्तक्षेप बढ़ गया है। जैसेः गेहूँ की कटाई में कम्बाइन मशीन के अधिकाधिक उपयोग से भूँसा कम प्राप्त हो रहा है। जिन श्रमिकों ने अपने गाँव में भैंस या अन्य दुधारू पशु पाल रखा है उनके लिए चारे की समस्या उत्पन्न हो रही है। कारखानों को लगाने के लिए हरे–हरे पेड़ काटे जा रहे हैं; श्रमिक वर्ग इन्हीं पेड़ों जैसे – नीम, बबूल आदि की दातुन का उपयोग दांत साफ करने के लिए करता था परन्तु पेड़ों के कटने से दातुन अब सरलता से नहीं मिल पाता है। ऐसी स्थिति में इन्हें टूथपेस्ट का उपयोग करना पड़ता है जो मंहगा है। इससे इनकी आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा दोनों मंहगी हो गयी हैं एवं गांव के प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई भी नहीं होती है। ऐसी स्थिति में ये असंगठित श्रमिक अपने बच्चों की अच्छी शिक्षा नहीं दे पा रहे हैं। भूमण्डलीकरण के इन्हीं नकारात्मक प्रभावों के कारण असंगठित श्रमिकों का जीवन कष्टप्रद हो गया है। मात्र 1.0 प्रतिशत असंगठित श्रमिकों का उत्तर 'अनिश्चित' है अर्थात वे न तो भूमण्डलीकरण का अपने जीवन पर पड़ने वाला सकारात्मक प्रभाव बता सके और न नकारात्मक प्रभाव के विषय में कुछ बता सके।

प्रतिदर्श श्रमिकों की दृष्टि में भूमण्डलीकरण ने आम आदमी के रहन–सहन के साथ–साथ त्योहार एवं उत्सवों को भी प्रभावित किया है। प्रत्येक त्योहार चाहे वह ईद हो या दीपावली, का बाजारीकरण हो गया है। समाचार–पत्रों, चलचित्रों और अन्य जनसंचार माध्यमों के द्वारा इन त्योहारों एवं शादी–विवाह जैसे उत्सवों पर अपने सगे–सम्बन्धियों को मंहगे उपहार देने के लिए उकसाया जाता है।

त्योहारों का परम्परागत स्वरूप समाप्त हो गया है तथा सजावट के काम में आने वाली वस्तुएं मँहगी हो गयी हैं। इन श्रमिकों ने बताया कि पहले स्थानीय स्तर पर बनने वाले दीपक से दिवाली में सजावट की जाती थी परन्तु अब इन दीपक का स्थान चाइनीज झालरों ने ले लिया है। इन विदेशी सामानों के बाजार में आने से सस्ते परम्परागत सजावटी सामान अब कम बिकते हैं ; इन परम्परागत सजावटी सामानों को बनाने वाले श्रमिकों के समक्ष रोजगार और उनके आश्रितों के समक्ष रोटी का संकट पैदा हो गया है। ऐसी स्थिति में इन श्रमिकों या उनके बच्चों में विचलन की भी समस्या पैदा हो रही है।

अध्ययन क्षेत्र में कार्यरत असंगठित श्रमिकों से जानने का प्रयास किया गया कि भूमण्डलीकरण का मानवीय मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ा है? 67.7 प्रतिशत असंगठित श्रमिकों के अनुसार भूमण्डलीकरण के कारण मूल्यों जैसे श्रद्धा, स्नेह, दया, करूणा, ईमानदारी का ह्रास हुआ है। कारखाने के मालिक या सेवायोजक कम मजदूरी में अधिक काम लेना चाहते हैं, आराम करने का अवसर नहीं दिया जाता है तथा समय–समय पर काम से निकालने की धमकी दी जाती है। इन श्रमिकों का यह भी मानना है कि अब छोटी–छोटी बातों पर लोग एक दूसरे की जान लेने को तैयार हो जाते हैं। वहीं दूसरी ओर 32.3 प्रतिशत असंगठित श्रमिकों की दृष्टि में भूमण्डलीकरण ने मानवीय मूल्यों में वृद्धि की है। इनके अनुसार बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदा आने पर लोग पीड़ितों की हर सम्भव सहायता करते हैं; मानवीय मूल्यों में वृद्धि होने के कारण ही यह सम्भव हो पाया है। भूमण्डलीकरण के कारण ही जनसंचार साधनों द्वारा विश्व के एक देश में घटित होने वाली घटनाओं से दूसरे देश के लोग प्रभावित हो रहे हैं; यही नहीं एक देश में जब जनता पर अत्याचार होता है तो पूरा विश्व उस जनता के समर्थन में खड़ा हो जाता है। ऐसा मानवीय मूल्यों में वृद्धि होने के कारण ही हुआ है। इन श्रमिकों का यह भी मानना है कि सरकार की श्रमिक विरोधी नीतियों के विरूद्ध पूरे श्रमिकों का एकजुट होकर आवाज बुलन्द करना मानवीय मूल्यों में होने वाली वृद्धि का संकेत है जो भूमण्डलीकरण का ही परिणाम है।

निष्कर्ष

भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण के बाद रोजगार के अवसरों में वृद्धि हुई है। उदारीकरण से पूर्व विनिर्माण एवं कृषि क्षेत्र ही रोजगार प्राप्त करने के प्रमुख स्रोत थे किन्तु अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र की लगातार बढ़ती भूमिका के कारण संगठित और असंगठित, दोनों, क्षेत्रों में श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसर बढ़े हैं परन्तु रोजगार के अवसरों में यह वृद्धि कुशल एवं तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित श्रमिकों के लिए ही है, आम श्रमिकों के लिए नहीं। हाँलाकि भूमण्डलीकरण नें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना को साकार किया है, किन्तु बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आगमन से स्थानीय दुकानदारों एवं श्रमिकों के रोजगार उजड़ने के साथ–साथ बहुत सी पर्यावरण हितैषी एवं पारम्परिक रोजगारों के नष्ट हो जाने का खतरा है।

भूमण्डलीकरण निश्चय ही विश्व के व्यापार एवं वित्त तन्त्र को नए रूप में ढाल रहा है परन्तु यह यहीं तक सीमित नहीं है। यह नियोजित रूप से हमारी चेतना को भी कई स्तरों पर प्रभावित कर रहा

है, इससे पारिवारिक–सामाजिक– सांस्कृतिक बोध भी अछूता नहीं रह पाया है। सैकड़ों टीवी चैनलों की भीड़ हर चीज को उपभोक्ता वस्तु में बदलने को आमादा है और विज्ञापनों ने मानो मनुष्य की सारी सम्भावनाओं को उसमें अंधाधुंध खरीदारी कर सकने की क्षमताओं से तौल दिया है। आदमी महज 'उपभोक्ता' में बदल जाने और उसी संदर्भ में मूल्यांकित होने की ओर बढ़ चला है। भूमण्डलीय बाजार अपनी मार्केटिंग के तौर–तरीके के जरिये पूरे सामाजिक जीवन को ही खरीद–बिक्री के पैमाने में ढलता जा रहा है। चाहे जिस तरह भी हो, हर वस्तु निजी तौर पर हासिल कर लेने और इसे हैसियत और आत्मसम्मान से जोड़कर देखने की मानसिकता परवान चढ़ रही है। ऐसी स्थिति में मानवीय मूल्यों का ह्रास भी हो रहा है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भूमण्डलीकरण का असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों के रोजगार पर सकारात्मक कम लेकिन नकारात्मक रूप से अधिक प्रभाव पड़ा है। इन श्रमिकों के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन पर भूमण्डलीकरण का नकारात्मक प्रभाव अधिक दिखाई देता है। हांलाकि ऐसा नहीं है कि भूमण्डलीकरण का इन श्रमिकों के जीवन पर कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है। निश्चित तौर पर शिक्षा – स्वास्थ्य – यातायात एवं अन्य आधारभूत सुविधाओं तक इनकी पहुँच भूमण्डलीकरण का ही परिणाम है।

संदर्भ ग्रंथ

1. चन्द्रा, नयन (2001), उद्धृत बी.आर. नायर, 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड नेशनलिज्म', सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ0 16
2. नैय्यर, बी.आर. (2001), ग्लोबलाइजेशन एण्ड नेशनलिज्म', सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ0 11
3. पाटिल, बी. (2005), सोशल इम्पैक्ट ऑफ ग्लोबलाइजेशन', यूनिवर्सिटी न्यूज मैगजीन, एसोसिएशन आफ इण्डियन यूनिवर्सिटीज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, अंक 43, पृ0 2
4. ट्रेड एण्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट 1999, यूनाइटेड नेशनन्स कमीशन आन ट्रेड एण्ड डेवलपमेंट ;न्छब्ज।क्द्धए न्यूयार्क, पृ0 5
5. मिश्र, ए.के. (2003), निजीकरण की अवधारणा और इसका औचित्य' प्रतियोगिता दर्पण, उपकार प्रकाशन, आगरा, जुलाई : पृ0 2166
6. मिश्र, गिरीश (2002), 'भूमण्डलीकरण का वर्तमान स्वरूप एवं वैचारिक आधार', पत्रिका पहल–72, जबलपुर : पृ0 226
7. मिश्रा एवं पुरी (2000), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ0 204
8. सिंह, विवेक प्रकाश (2008), 'भूमण्डलीकरण की अवधारणा व भारतीय समाज','प्रस्थान' पत्रिका पृ० सं० 168–175

अनन्त अनादि, त्रैमासिक शोध पत्रिका January-March 2026 Volume - I, Issue - I

भारतीय संस्कृति : साहित्य और मूल्य विमर्श

डॉ. प्रद्योत कुमार सिंह

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बाबा राघव दास स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
देवरिया– उत्तर प्रदेश

संस्कृति एक सतत् प्रक्रिया है जो व्यक्ति का परिष्कार कर उसे उन्नत बनाकर विशुद्ध मानवत्व की कोटि तक पहुँचाती है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का संशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है। यह विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो समष्टि की भावना पैदा करती है। जो राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व है। प्रबुद्ध विचारकों ने संस्कृति के चार तत्त्व माने हैं– तत्त्वज्ञान, नीति, विज्ञान एवं कला। एक विद्वान ने कहा कि बाहर की ओर देखना विज्ञान है अन्दर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है । किन्तु संस्कृति में धर्म, दर्शन और विज्ञान भी है और कला भी। संस्कृति जीवन का सार है। संस्कृति कोई क्रिया नहीं है अपितु एक प्रकार से समस्त परम्परागत अर्जित व्यवहारों की विशिष्ट समष्टि है जो समाज के सर्वतोन्मुखी विकास एवं उसकी राष्ट्रीय चेतना के मूल में निवास करती है। ऐतरेय ब्राह्मण में संस्कृति को स्वरूपित करने का प्रयास लक्षित होता है। वहाँ संस्कृति मानव के वैयक्तिक और समष्टिगत उत्कर्ष की प्रतीति कराती है।

आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पनि एतैर्यजमान आत्मनं संस्कुरूते ।

छन्दोग्योपनिषद ने मनुष्य को मानवतावादी से अनुप्राणित करने वाली दृष्टि को संस्कृति की अभिख्या प्रदान की है।

कास्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवनव्यपरिषु सामजिक सम्बन्धुषु वा मानवीयत्व दृष्ट्योप्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समविष्टरेव संस्कृतिः ।

संस्कृति का सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की चेतना के संस्कारों से है। संस्कृति का अध्ययन मानव–चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन ही है और उसी में से उसके भावी विकास की संभावनाएँ भी बाहर आती है। कोई भी समाज अपनी सार्थकता जिन आदर्शों या मूल्यों की सिद्धि में स्वीकार करता है, वही आदर्श या मूल्य, संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का भी निर्धारण करता है, इसलिए संस्कृति को मूल्य–दृष्टि या सांस्कृतिक प्रक्रिया को मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया कहा जाता है। भारतीय संस्कृति में सहनशीलता और उदारता की भावना बड़ी प्रबल है। यही कारण है कि इसने दूसरी संस्कृतियों को भी आत्मसात् किया साथ ही अपनी विशिष्ट परम्परा पर आधारित विश्वास, आस्था को भी यथावत रखा साथ–ही–साथ अपनी सांस्कृतिक पहचान को भी मूर्त रखने का

प्रयास करती रही। सभी प्रकार के विचार मत–मतान्तर वाली संस्कृतियाँ इस भारतीय संस्कृति के परचम तले अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई।

भारतीय संस्कृति में मूल्य को आत्मबोध अथवा इसके साधन से अभिन्न समझा जाता रहा है। मूल्यानुभूति में विषय और विषयी दोनों ही रूपांतरित हो जाते हैं। क्योंकि मूल्यान्वेषण में इच्छा और विवेक दोनों सम्मिलित रहते हैं। किसी भी संस्कृति की पहचान उसमें अन्तर्निहित विशिष्ट जीवनदर्शन से होती है जो अपने अनुरूप एक विशेष मूल्य प्रणाली को समाहित किये रहती है। संस्कृति से ही समाज परिभाषित होता है और मनुष्य की पहचान भी इस तथ्य पर आधारित है कि वह किन आदर्शों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयास करता है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों मैं– सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य अवस्थाओं और पुराण ग्रन्थों का आधार रहती है। किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है।

साहित्य का अर्थ है शब्द अर्थ का यथावत् सहभाव, अर्थात् श्साथ होनाश । साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है। संस्कृति के अन्तर्गत चेतना और व्यवहार दोनों का सामंजस्य रहता है। दोनों को स्पर्श करता हुआ पुष्ट जीवन ही संस्कारमय कहलाता है। समाज में संकीर्णता को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करने वाले साहित्य को ही हम साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। साहित्य किसी भी समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। किसी भी राष्ट्र का साहित्य वहाँ के जीवन–दर्शन, सभ्यता और संस्कृति के विकास का प्रमाण है जो समाज में नयी प्रेरणा, आशा और चेतना का प्रादुर्भाव करता है। साहित्य किसी भी देश अथवा जाति की भावात्मक एकता और अखण्डता की रक्षा का कवच होता है। डॉ० लक्ष्मी सागर के शब्दों में– साहित्य के माध्यम द्वारा भाषा के साथ, शब्द की उसके अर्थ के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति की स्थापित नहीं होती वरन् मानव–हृदय का मानव हृदय के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ मनुष्य के हृदय का बाह्य घटनाओं और दृश्यों के साथ मिलन स्थापित है।

साहित्य जनपक्षधरता, आम आदमी, आम समस्या, दैनन्दिन व्यवहार में मूल्य में प्रतिष्ठा को दृष्टांतो के द्वारा कभी कथा रूप में, कभी काव्य रूप में, कभी ललित निबंध में, कभी डायरी में, चिंतन मनन में, कभी व्यंगों के चुभन द्वारा तथा अन्य विविध शब्द रूपों में प्रस्तुत करता है । तात्पर्य है की साहित्य व साहित्यकार तत्त्वचिंतन नहीं, मूल्यचिंतन नहीं, मूल्य व्यवहार की भावभूमि प्रस्तुत करता है। प्रश्न है–मूल्यों की प्रयोगशाला या व्यवहारभूमि क्या है? उत्तर है–समाज। मूल्य किसके लिए? उत्तर है व्यक्ति के लिए, और चूँकि समाज व्यक्तियों का समुच्चय है अतः मूल्य–समाज के लिए।

साहित्यकार व साहित्य सृजन की मूल्यों को प्रस्तुत करते हुए प्रसंगों की ऐसी अभिव्यक्ति के कई प्रारूप होते हैं। कुछ भावभूमि तैयार करते हैं कि कलेजा कचोटने लगता है। साहित्य की यह विशेषता है कि जहाँ बांधा, फिर वह अपना अभीष्ट प्राप्त एक बार खुद के आकर्षण में पाठक को करके ही रहेगा, फिर वह पाठक को पात्रों पर अवलंबित करके अपना मंतव्य प्राप्त करके ही रहेगा। श्गोदानश का पाठक कभी होरी के लहजे से सोचता है, कभी गोबर के, कभी धनिया के, कभी रायसाहब और कभी खन्ना या गोविन्दी के किन्तु सभी अंतर्द्वदों के बाद जब कथा चरमोत्कर्ष पर है तो अचानक ही गोदान के सारे संदेश जाकर होरी के अवसान बिन्दु पर पहुंचती सिमटकर दया मूल्य व गरीबोद्धार पर केन्द्रित हो जाते हैं। पाठक एक अदृश्य मूर्छा की सी स्थिति में हृदय में एक टीस ही महसूस करता है कि काश होरी बच जाता, काश वह एक गऊ का सुख पा जाता, काश कभी तो किसान शोषण की चक्की में पिसने से बचे रह पाते। यह साहित्यिक दुखान्त भी मूल्यों के लिहाजे से ज्योतिर्युक्त है क्योंकि यह हमारी समाज की शोषक प्रवृत्तियों का विरेचन व शोधन करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से धर्मवीर भारती जी की दुखान्त व दुःखप्रधान साहित्य में सिद्धहस्तता जगजाहिर है। उनके उपन्यास सूरज का सातवाँ घोड़ा व कहानियों गुलकी बन्नो तथा श्सावित्री नंबर दो तो अपने कथानकों द्वारा दया, त्याग समर्पण व प्रेम जैसे मूल्यों का सामाजिक अन्तरण करते ही हैं, श्बन्द गली का आखिरी मकान तो बौद्धिक एकांगिता व गहरे विषाद युक्त चिंतन को जन्म देता है जो संबंधों के गहरे खालीपन में मूल्यों की स्थापना की ओर मुँह बाए खड़ा मिलता है।

साहित्य में कॉमेडी या सटायर या आयरनी या व्यंग कथा भी मूल्य स्थापना का कार्य बखूबी करते हैं। श्रीलाल शुक्ल के रागदरबारी का लंगड़ दया मूल्य को, वैद्यजी का चरित्र ईर्ष्या उत्पन्न करके सच्चा देशभक्त व लोकतंत्रित बनने के मूल्य को तथा खन्ना मास्टर का चरित्र अधिकार चेतना को दर्शाते है। इसी प्रकार भोलाराम का जीवश और प्रेमचंद के फटे जूते (दोनों हरिशंकर परसाई जी कृत) आदि विभिन्न कुरीतियों व भ्रष्टाचारों पर प्रहार करते हुए सूक्ष्म मूल्यों को प्रसारित करते हैं। काव्य में कबीर के आडंबरों पर चोट करते पद व दोहे, सूर के प्रेम के पद, प्रसाद का आंसू व घनानन्द के काव्य रासो साहित्य के देश प्रेम युक्त पद आदि भी विविध श्रेष्ठ मूल्यों का संरचण कभी प्रत्यक्ष, कभी प्रतीक रूप में करते हैं। तात्पर्य यह है कि मूल्य चिंतन पालन व मूल्य प्राप्ति के लिए साहित्य से अच्छी उर्वर भूमि और किसी अनुशासन की नहीं हो सकती। यह अंधविश्वासों व कूप–मंडूकताओं की जड़ों पर प्रहार करता है। यदि बालक का मस्तिष्क एक कोरी स्लेट के समान माना जाय जिस पर लिखा मृत्यु तक अमिट रहता है तो भी उस पर स्थूल आदर्शों व मूल्यों की अमिट कथा व कविता की रोशनाई में डुबों कर ही लिखी जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. ऐतरेय ब्राह्मण, 6/5/1
2. छान्दोग्योपनिषद, 8/4/1
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, विचार और वितर्क, पृ. 181।
4. तिवारी रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य (2009), विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।
5. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिन्दी का इतिहास (2012), लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।
6. नगेन्द्र, डॉ० हिन्दी साहित्य का इतिहास (2006), कपूर पेपर वैक्स।
7. गुप्त, जगदीश, हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रवृत्यात्मक अध्ययन (2002), भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद।
8. वार्ष्णे, लक्ष्मीसागर, साहित्य शीर्षक निबंध
9. दिनकर, रामधारी सिंह संस्कृति के चार अध्याय ।

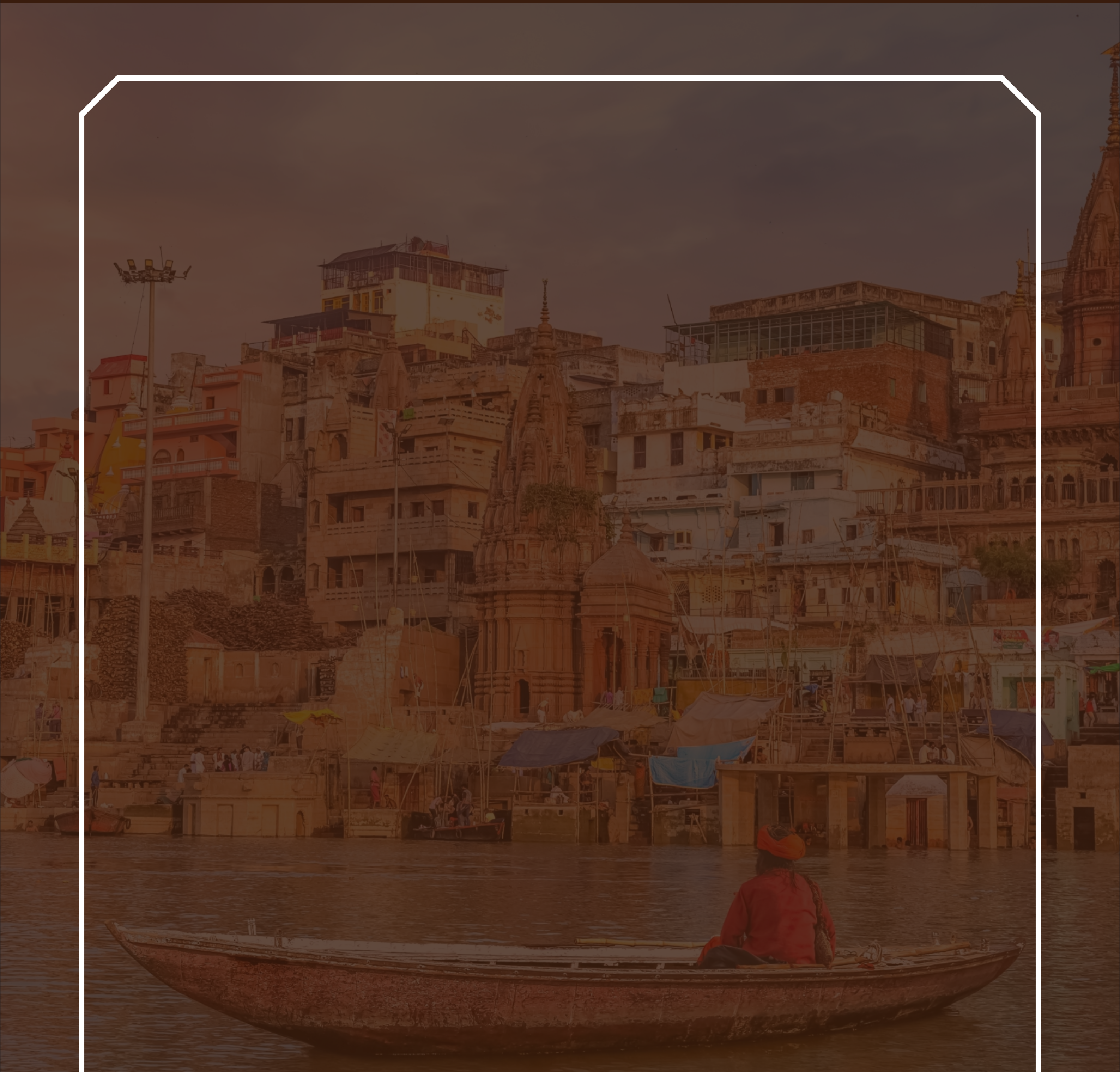

अनन्त अनादि

त्रैमासिक शोध पत्रिका

January-March 2026 Volume - I, Issue - I

Published by Sumit Rai Printed at Bharti Publication, Varanasi & Published at House no. 119 Vill-Jagarnath Chhapra, Post- Ghanti Tehsil- Bhatpar Rani, Deoria- Uttar Pradesh Editior- Sumit Rai

प्रकाशन तिथि –05 मार्च 2026 । कुल पृष्ठ – 36 (आवरण सहित)